रवीन्द्र-साहित्यकी
समस्त रचनाएँ
मूल बंगलासे
अनूदित हैं

प्रकाशक
धन्यकुमार जैन
पी-१५, कलाकार स्ट्री
कलकत्ता - ७

मूल्य २।)
सवा दो रुपया

मुद्रक : सुराना प्रिण्टिंग वर्क्स
४०२, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता

'प्रथम शिथिल छन्दोमाला'

कविके शेष जीवनकी कविताएँ

•

अनुवादक

धन्यकुमार जैन

हिन्दी - ग्रन्थागार
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता - ७

विश्वकी आरोग्य-लक्ष्मी हैं जिनके जीवनके अन्तःपुरमें
पशु-पक्षी तरु-लता
नित्य रत अदृश्य शुश्रूषा
जीर्णतामें मृत्यु-पीड़ितको
अमृतका सुधा-स्पर्श देकर
रोगका सौभाग्य लेकर, उनका आविर्भाव
देखा था जिन दो नारियोंमें
स्निग्ध निरामय-रूपमें,
छोड़े जाता हूं उन्हींके लिए
अपटु लेखनीकी यह 'प्रथम शिथिल छन्दोमाला'।

'उदयन' : शान्ति-निकेतन
प्रभात : १ दिसम्बर १९४०

रोगशय्यापर

१

सुरलोकके नृत्य-उत्सवमें
यदि क्षण-भरके लिए
क्लान्त-श्रान्त उर्वशीसे
होता कहीं ताल-भङ्ग
देवराज करते नहीं मार्जना ।
पूर्वार्जित कीर्ति उसकी
अभिशापके तले होती निर्वासित ।
आकस्मिक त्रुटिको भी न करता कभी स्वर्ग स्वीकार ।
मानवके सभा-अङ्गनमें
वहां भी जाग रहा स्वर्गका न्याय-विचार ।
इसीसे मेरी काव्य-कला हो रही कुण्ठित है
ताप-तप्त दिनान्तके अवसादसे ;
डर है, हो न कहीं शैथिल्य उसके पदक्षेप-तालमें ।
ख्याति-तुष्ट वाणी मेरी
महेन्द्रके चरणोंमें करता हूं समर्पण
निरासक्त-मनसे जा सकूं, बस, यही चाह है,
वैरागी रहे वह सूर्यास्तके गेरुआ प्रकाशमें ;
निर्मम भविष्य है, जानता हूं, असावधानीमें दस्यु-वृत्ति करता है
कीर्तिके संचयमें —
आज उसकी होती है तो होने दो प्रथम सूचना ।

'उदयन' : शान्ति-निकेतन
प्रभात : २७ नवम्बर १९४०

२

अनिःशेष प्राण
अनिःशेष मरणके स्रोतमें बह रहे,
पद-पदपर संकटपर हैं संकट
नाम-हीन समुद्रके न-जाने किस तटपर
पहुंचनेको अविश्राम खे रहा नाव वह,
कैसा है न-जाने अलक्ष्य उसका पार होना
मर्ममें बैठा वह दे रहा आदेश है,
नहीं उसका शेष है।
चल रहे लाखों-करोड़ों प्राणी हैं,
इतना ही बस जानता हूं।
चलते-चलते रुकते हैं, पण्य अपना किसको दे जाते हैं,
पीछे रह जाते जो लेनेको, क्षणमें वे भी नहीं रह पाते हैं।
मृत्युके कवलमें लुप्त निरन्तरका धोखा है,
फिर भी वह नहीं धोखेका, निबटते-निबटते भी रह जाता बाकी है;
पद-पदपर अपनेको करके शेष
पद-पदपर फिर भी वह जीता ही रहता है।
अस्तित्वका महैश्वर्य है शत-छिद्र घटमें भरा—
अनन्त है लाभ उसका अनन्त क्षति-पथमें झरा;
अविश्राम अपचयसे संचयका आलस्य होता दूर,
शक्ति उसीसे पाता भरपूर।
गति-शील रूप-हीन जो है विराट,
महाक्षणमें है, फिर भी क्षण-क्षणमें नहीं है वह।
स्वरूप जिसका है रहना और नहीं-रहना,
मुक्त और आवरण-युक्त है,
किस नामसे पुकारूं उसे अस्तित्व-प्रवाहमें—
मेरा नाम दिखाई दे विलीन हो जाता जिसमें?

३

अकेला बैठा हूं यहां
यातायात-पथके तटपर।
विहान-वेलामें गीतकी नाव जो
लाये हैं खेकर प्राणके घाटपर
आलोक-छायाके दैनन्दिन नाटपर,
संध्या-वेलाकी छायामें
धीरेसे विलीन हो जाते वे।
आज वे आये हैं मेरे
स्वप्न-लोकके द्वारपर;
सुर-हीन व्यथाएँ हैं जितनी भी
ढूंढ़ती फिरतीं अपना एकतारा वे।
प्रहरपर प्रहर बीतते ही जाते हैं,
बैठा-बैठा गिन ही रहा हूं मैं
नीरव जप-मालाकी ध्वनि
नस-नसमें अन्धकारके।

कलकत्ता
३० अक्टोबर १९४०

४

अजस्र है दिनका प्रकाश,
जानता हूं, एक दिन
आंखोंको दिया था ऋण।
लौटा लेनेका दावा जताया आज
तुमने, महाराज!

चुका देना होगा ऋण, जानता हूं,
फिर भी क्यों संध्या-दीपपर
डालते हो छाया तुम ?
रचा है तुमने जो आलोकसे विश्वतल
मैं हूं वहां एक अतिथि केवल।
यहां वहां यदि पड़ा हो
किसी छोटी-सी दरारमें
न सही पूरा
टुकड़ा अधूरा –
छोड़ जाना पड़ा अवहेलनासे,
जहां तुम्हारा रथ
शेष चिह्न रख जाता है अन्तिम धूलमें
वहां रचने दो मुझे अपना संसार।
थोड़ा-सा रहने दो उजाला,
थोड़ी-सी छाया,
और कुछ माया।
छाया-पथमें लुप्त आलोकके पीछे
शायद पड़ा मिलेगा कुछ –
कणामात्र लेश
तुम्हारे ऋणका अवशेष।

कलकत्ता
२ नवम्बर १९४०

५

इस महाविश्वमें
चलता है यंत्रणाका चक्र-घूर्ण,
होते रहते हैं ग्रह-तारा चूर्ण।

उत्क्षिप्त स्फुलिङ्ग सब
दिशा-विदिशाओंमें अस्तित्वकी वेदनाको
प्रलय-दुःखके रेणु-जालमें
व्याप्त करनेको दौड़ते फिरते हैं प्रचण्ड आवेगसे।
पीड़नकी यन्त्रशालामें
चेतनाके उद्दीप्त प्राङ्गणमें
कहाँ शल्य-शूल हो रहे झंकृत,
कहाँ क्षत-रक्त हो रहा उत्सारित ?
मनुष्यकी क्षुद्र देह,
यन्त्रणाकी शक्ति उसकी कैसी दुःसीम है।
सृष्टि और प्रलयकी समामें—
उसके वह्निरस-पात्रने
किसलिए योग दिया विश्वके भैरवीचक्रमें,
विधाताकी प्रचण्ड मत्तता—
इस देहके मृत्-भाण्डको भरकर
रक्तवर्ण प्रलापके अश्रु-स्रोतसे करती क्यों विप्लावित ?
प्रतिक्षण अन्तहीन मूल्य दिया उसे
मानवकी दुर्जय चेतनाने,
देह-दुःख-होमानलमें
जिस अर्घ्यकी दी आहुति उसने—
ज्योतिष्ककी तपस्यामें
उसकी क्या तुलना है कहीं ?
ऐसी अपराजित-वीर्यकी सम्पदा,
ऐसी निर्भीक सहिष्णुता,
ऐसी उपेक्षा मरणकी,
ऐसी उसकी जययात्रा
वह्नि-शय्या रौंदकर पग-तले

दुःखके सीमान्तकी खोजमें
नाम-हीन ज्वालामय किस तीर्थके लिए है
साथ-साथ प्रति पथमें प्रति पदमें
ऐसा सेवाका उत्स आग्नेय-गह्वर भेदकर
अनन्त प्रेमका पाथेय ?

कलकत्ता
४ नवम्बर १९४०

६

अरी ओरी, मेरी भोरकी चिरैया गौरैया,
कुछ-कुछ रहते-अँधेरेमें फटते ही पौ
नींदका नशा जब रहता कुछ बाकी तब
खिड़कीके कांचपर मारती तुम चोंच आकर,
देखना चाहती हो 'कुछ खबर है क्या'।
फिर तो व्यर्थ फुदकफुदकी
चाहे-जैसे नाचकर
चाहे-जैसे चुहचुहाती हो ;
निर्भीक तुम्हारी पुच्छ
शासन कर सकल विघ्न-बाधाको करती तुच्छ।
तड़के ही दोयलिया देती जब सीटी है
कवियोंसे पाती बख्शीश कुछ मीठी है ;
लगातार प्रहर-प्रहर-भर मात्र एक पंचम-सुर साधकर
छिपे-छिपे कोयलिया करती उस्तादी है—
ठकेल सब पक्षियोंको किनारे एक
कालिदासकी पाई वाहवाही उसीने नेक।

परवाह नहीं करती हो उसकी जरा भी तुम,
मानती नहीं हो तुम सरगमके उतार और चढ़ावको।
कालिदासके घरमें घुस
छन्दोभङ्ग चुहचुहाना
मचातीं तुम किस कौतुकसे !
नवरत्न-सभाके कवि गाते जब अपना गान
तुम तब सभा-स्तम्भोंपर करती हो क्या सन्धान ?
कवि-प्रियाकी तुम पड़ोसिन हो,
मुखरित प्रहर-प्रहर तक तुम दोनोंका रहता साथ।
वसन्तका बयाना-दिया
नहीं वह तुम्हारा नाट्य,
जैसा-तैसा तुम्हारा नाच
उसमें नहीं कुछ परिपाट्य।
अरण्यकी गायन-सभामें तुम जातीं नहीं सलाम ठोंक,
उजालेके साथ ग्राम्य भाषामें समक्ष आलाप होता ;
न-जाने क्या अर्थ उसका
नहीं है अभिधानमें –
शायद कुछ होगा अर्थ तुम्हारे स्पन्दित-हृदय ज्ञानमें।
दायें बायें मोड़-मोड़ गरदनको
करतीं क्या मसखरी हो अकारण ही दिन-दिन-भर,
ऐसी क्या जल्दी है ?
मिट्टीपर तुम्हारा स्नेह
धूल ही में करतीं स्नान –
ऐसी ही उपेक्षित है तुम्हारी यह देह-सज्जा
मलिनता न लगती कहीं, देती न तुम्हें लज्जा।
बनाती हो नीड़ तुम राजाके घर छतके किसी कोनमें
दुबकाचोरी है ही नहीं तुम्हारे कहीं मनमें।

अनिद्रामें मेरी जब कटती है दुखकी रात
आशा मैं करता हूं, द्वारपर तुम्हारा पड़े चंचुघात।
अभीक और सुन्दर-चंचल
तुम्हारी-सी वाणी सहज-प्राणकी
ला दो मुझे ला दो –
सब जीवोंका प्रकाश दिनका
मुझे बुला लेता है,
ओरी मेरी भोरकी चिरैया गौरैया!

कलकत्ता
प्रभात : ११ नवम्बर '४०

७

गहन इस रजनीमें
रोगीकी धुँधली दृष्टिने
देखा जब सहसा
तुम्हारा जाग्रत आविर्भाव,
ऐसा लगा, मानो
आकाशमें अगणित ग्रह-तारे सब
अन्तहीन कालमें
मेरे ही प्राणोंका कर रहे स्वीकार भार।
और फिर, मैं जानता हूं,
तुम चले जाओगे जब,
आतङ्क जगायेगी अकस्मात्
उदासीन जगतकी भीषण निःस्तब्धता।

कलकत्ता
गहन रात्रि : १२ नवम्बर '४०

८

लगता है मुझे ऐसा हेमन्तकी दुर्भाषा-कुज्झटिकाकी ओर
आलोककी कैसी तो एक भर्त्सना
दिगन्तकी मूढ़ताको दिखा रही तर्जनी ।
पाण्डुवर्ण हुआ आता सूर्योदय
आकाशके भालपर,
घनीभूत हो रही लज्जा,
हिम-सिक्त अरण्यकी छायामें
हो रहा स्तब्ध है विहंगोंका मधुर गान ।

कलकत्ता
१३ नवम्बर '४०

९

हे प्राचीन तमस्विनी,
आज मैं रोगकी विमिश्र तमिस्रामें
मन-ही-मन देख रहा —
कालके प्रथम कल्पमें निरन्तर निविड़ अन्धकारमें
बैठी हो सृष्टिके ध्यानमें
कैसी भीषण अकेली हो,
गूंगी तुम, अन्धी तुम ।
अस्वस्थ शरीरमें क्लिष्ट रचनाका जो प्रयास
इसीको देखा मैंने
अनादि आकाशमें ।
पंगु रो-रो उठता है निद्राके अतल-तलमें
आत्म-प्रकाशकी क्षुधा विगलित-लौह-गर्भसे
छिपे-छिपे जल उठती है गोपन-शिखाओंमें ।

अचेतन ये मेरी उंगलियाँ
अस्पष्ट शिल्पकी माया बुनती ही जाती हैं ;
आदिमहार्णव-गर्भसे
अकस्मात् फूल-फूल उठते हैं
स्वप्नके प्रकाण्ड पिण्ड,
विकलाङ्ग असम्पूर्ण सब —
कर रहे प्रतीक्षा घोर अन्धकारमें
कालके दाहने हाथसे मिलेगी उन्हें कब पूर्ण देह,
विरूप कदर्य सब लेंगे सुसंगत कलेवर
नव सूर्यके आलोकमें ।
मूर्तिकार पढ़ देगा मन्त्र आकर,
धीरे-धीरे उद्घाटित करेगा वह विधाताकी अन्तर्गूढ़ संकल्पकी धाराको ।

कलकत्ता
प्रभात : १२ नवम्बर '४०

१०

मेरे दिनकी शेष छाया
विलानेपर मूल-तानमें —
गुंजन उसका रहेगा चिरकाल तक,
भूल जायेंगे उसके मानी सब ।
कर्मक्लान्त पथिक जब
बैठेगा पथके किनारे कहीं
मेरी इस रागिणीका करुण अभास
स्पर्श करेगा उसे,
नीरव हो सुनेगा झुकाकर सिर ;
मात्र इतना ही अभासमें समझेगा,
और न समझेगा कुछ —

विस्मृत युगमें दुर्लभ क्षणोंमें
जीवित था कोई शायद,
हमें नहीं मिली जिसकी कोई खोज
उसीको निकाला था उसने खोज ।

कलकत्ता
प्रभात : १३ नवम्बर '४०

११

जगतमें युगोंसे हो रही जमा
सुतीव्र अक्षमा ।
अगोचरमें कहीं भी एक रेखाकी होते ही भूल
दीर्घ कालमें अकस्मात् करती वह अपनेको निर्मूल ।
नींव जिसकी चिरस्थायी समझ रखी थी मनमें
नीचे उसके हो उठता है भूकम्प प्रलय-नर्तनमें ।
प्राणी कितने ही आये थे बाँधके अपना दल
जीवनकी रङ्गभूमिपर
अपर्याप्त शक्तिका लेकर सम्बल —
वह शक्ति ही है भ्रम उसका,
क्रमशः असह्य हो लुप्त कर देती महाभारको ।
कोई नहीं जानता,
इस विश्वमें कहाँ हो रही जमा
प्रचण्ड अक्षमा ।
दृष्टिकी अतीत त्रुटियोंका कर भेदन
सम्बन्धके दृढ़ सूत्रको वह कर रही छेदन ;
इङ्गितके स्फुलिङ्गोंका भ्रम
पीछे लौटनेका पथ सदाको कर रहा दुर्गम ।

प्रचण्ड तोड़-फोड़ चालू है पूर्णके ही आदेशसे ;
कैसी अपूर्व सृष्टि उसकी दिखाई देगी शेषमें—
चूर्ण होगी अबाध्य मिट्टी, बाधा होगी दूर,
ले-लेकर नूतन प्राण उठेंगे अंकुर।
हे अक्षमा,
सृष्टिके विधानमें तुम्हीं तो हो शक्ति परमा ;
शान्ति-पथके कांटे हैं तुम्हारे पद-पातमें
विदलित होते हैं बार-बार आघात-आघातमें।

कलकत्ता
१३ नवम्बर '४०

१२

सवेरे उठते ही देखा निहारकर
घरमें चीजें बिखरी पड़ी हैं सब,
कागज कलम किताब सब कहाँ तो रखी हैं,
ढूंढ़ता फिरता हूं, मिलती नहीं कहीं भी ढूंढ़े।
मूल्यवान कहाँ क्या जमता है
बिखरा सब, न कहीं कोई समता है।
पत्र-शून्य लिफाफे सब पड़े हैं छिन्न-भिन्न
पुरुष-जातिके आलस्यका यही तो है शायद चिह्न !
क्षणमें जब आ पहुंचे दो नारी-हस्त
क्षणमें ही जाती रहीं जितनी थीं त्रुटियाँ सब।
फुरतीले हाथोंसे निर्लज्ज विश्रृङ्खलाके प्रति
ले आती है शोभना अपनी चरम सद्गति।
कटे-फटेके क्षत मिटते हैं, दागीकी होती लज्जा दूर
अनावश्यक गुप्त नीड़ कहीं भी न बचता फिर।

फूहड़पनमें रहता और सोचता अवाक् हो
सृष्टिमें 'स्त्री' और 'पुरुष' बह रहीं ये धारा दो;
पुरुष अपने चारों ओर जमाता है कूड़ा भारी,
नित्यप्रति दे बुहारी करती साफ-सुथरा नारी।

कलकत्ता
दोपहर : १४ नवम्बर '४०

१३

यदि दीर्घ दुःख-रात्रिने
अतीतके किसी प्रान्त-तटपर जा
नाव अपनी खेनी कर दी हो शेष तो
नूतन विस्मयमें
विश्वजगतके शिशुलोकमें
जाग उठे मुझमें उस नूतन प्रभातमें
जीवनकी नूतन जिज्ञासा।
पुरातन प्रश्नोंको उत्तर न मिलनेपर
अवाक् बुद्धिपर वे करते हैं सदा व्यंग,
बालकों-सी चिन्ता-हीन लीला-सम
सहज उत्तर मिल जाय उनका बस
सहज विश्वाससे –
ऐसा विश्वास जो अपनेमें रहे तृप्त,
न करे कभी कोई विरोध,
आनन्दके स्पर्शसे
सत्यकी श्रद्धा और निष्ठा ला दे मनमें।

कलकत्ता
प्रभात : १५ नवम्बर '४०

१४

नदीके किसी-एक कोनेमें सूखी-सड़ी डाली एक
स्रोतको पहुंचाये यदि बाधा तो
स्वयं सृष्टि-शक्ति बहते-हुए कूड़ेसे
करती है प्रकट वहां रचनाकी चातुरी —
छोटे द्वीप गढ़ती है, लाती खींच शैवाल-दल
तीरका जो भी कुछ परित्यक्त सबको बटोर लेती
उपादान द्वीप-सृष्टिके ऐसे ही जुटाती वह।
मेरे इस रोगीके छोटेसे कमरेमें
अवरुद्ध आकाशमें
वैसे ही चल रही सृष्टि है
सबसे निराली और स्वतंत्र स्वरूपमें।
उसीके कर्मका आवर्तन
है छोटी-सी सीमामें।
माथेपर रखकर हाथ
देखते हैं, 'है क्या ताप?'
उद्विग्न आंखोंकी दृष्टि बस करती है प्रश्न यही,
'आती क्यों नींद नहीं?'
चुपकेसे दबे-पांव
आता प्रकाश है नित्य-प्रभातका।
पथ्यकी थाली ले हाथमें परिचारिका
कर-करके बार-बार अनुरोध-उपरोध नित्य
पाती है विजय वह रुचिके विरोधपर।
यत्न-हीन बिखरा रहता है जो-कुछ भी
यत्नसे सजाती है उन-सबको नित्य वह
आंचलसे धूल-मिट्टी झाड़कर।

निज हाथोंसे समान कर शय्याकी सिकुड़न सब
निज आसन तैयार कर रखती है सिरहानेपर
सेवा जो करनी है रात-भर जागकर ।
बात यहाँ धीर-स्वरसे होती है,
दृष्टि यहाँ वाष्पसे स्पर्शित है,
स्पर्श यहाँ करुण और कम्पित है –
जीवनका यह रुद्ध स्रोत
अपने ही केन्द्रमें आवर्तित,
बाहरी संवादकी
धारासे विच्छिन्न है बहुत दूर ।

किसी दिन आती जब बाढ़ है
शैवालका द्वीप बह जाता है ;
परिपूर्ण जीवनकी आयेगी ज्वार जब
वैसे ही बह जायगा सेवाका नीड़ भी,
वैसे ही बह जायेंगे यहाँके ये
दुख-पात्रमें सुधा-भरे गिनतीके नश्वर दिन ।

'उदयन'
१९ नवम्बर १९४०

१५

अस्वस्थ शरीर यह
कौनसी अवरुद्ध भाषा कर रहा वहन ?
वाणीकी क्षीणता
मुह्यमान आलोकमें रच रही अस्पष्टकी कारा क्या ?
निर्झर जब दौड़ता है परिपूर्ण वेगसे

बहुत दूर दुर्गमको करने जय –
गर्जन उसका तब
अस्वीकार करता ही चलता है गुफाके संकीर्ण नालेको,
घोषित करता ही रहता है निखिल विश्वका अधिकार।
बल-हीन धारा उसकी होती है मन्द जब
वैशाखकी शीर्ण शुष्कतासे –
खोता तब अपनी वह मन्द्रध्वनि,
कृशतम होता ही रहता है अपनेमें
अपना ही परिचय।
खण्ड-खण्ड कुण्डोंमें
क्लान्त-श्रान्त गतिस्रोत उसका विलीन हो जाता है।
वैसे ही मेरी यह म्लान वाणी
आज खो बैठी है स्पर्धा अपनी,
नहीं है शक्ति उसमें जीवनकी संचित ग्लानिको
धिक्कार देनेकी।
आत्मगत क्लिष्ट जीवनकी कुहेलिका
विश्वकी दृष्टि उसकी कर रही हरण है।

हे प्रभात-सूर्य,
अपना शुभ्रतम रूप मैं
देखूंगा तुम्हारी ज्योतिके केन्द्रमें उज्ज्वलतर,
मेरे प्रभात-ध्यानको अपनी उस शक्तिसे
कर दो आलोकित,
दुर्बल प्राणोंका दैन्य
अपने हिरण्मय ऐश्वर्यसे
कर दो दूर,
पराभूत रजनीके अपमान-सहित।

१६

अवसन्न आलोककी
शरतकी सायाह्न-प्रतिमा –
असंख्य नक्षत्रोंकी शान्त नीरवता
स्तब्ध है अपने हृदय-गगनमें,
प्रति क्षणमें है निश्वसित निःशब्द शुश्रूषा।
अन्धकार-गुफासे निकलकर
जागरण-पथपर
हताश्वास रजनीके मन्थर प्रहर सब
प्रभातके शुक्र-ताराकी ओर बढ़ते ही जाते हैं
पूजाके सुगन्धमय पवनका
हिम-स्पर्श लेकर।
सायाह्नकी म्लानदीप्ति
करुणच्छविने
धारण किया है कल्याण-रूप
आज प्रभातकी अरुण-किरणमें;
देखा, मानो वह धीरे-धीरे आ रही है
आशीर्वाद लिये
शेफाली-कुसुम-रुचि प्रकाशके थालमें।

१७

कब सोया था,
जागते ही देखी मैंने –
नारंगीकी टोकनी
पैरोंके पास पड़ी
छोड़ गया है कोई।

कल्पनाके पसार पंख
अनुमान उड़-उड़कर जाता है
एक-एक करके नाना स्निग्ध नामोंपर।
स्पष्ट जानूं या न जानूं,
किसी अनजानको साथ ले
नाना नाम मिले आकर
नाना दिशाओंसे।
सब नाम हो उठे सत्य एक ही नाममें,
दानको हुई प्राप्त
सम्पूर्ण सार्थकता।

'उदयन'
२१ नवम्बर १९४०

१८

संसारके नाना क्षेत्र नाना कर्ममें
विक्षिप्त है चेतना—
मनुष्यको देखता हूं वहाँ मैं विचित्रके मध्यमें
परिव्याप्त रूपमें;
कुछ है असमाप्त उसका और कुछ अपूर्ण भी।
रोगीके कक्षमें घनिष्ट निविड़ परिचय है
एकाग्र लक्ष्यके चारों ओर,
कैसा नूतन विस्मय तू
दे रहा दिखाई है अपूर्व नूतन रूपमें।
समस्त विश्वकी दया
सम्पूर्ण संहत उसमें है,
उसके कर-स्पर्शसे, उसके विनिद्र व्याकुल पलकोंमें।

१६

सजीव खिलौने यदि
गढ़े जाते हों विधाताकी कर्मशालामें,
क्या दशा होगी उनकी—
यही कर रहा अनुभव मैं
आज आयु-शेषमें।
यहां ख्याति मेरी पराहत है,
उपेक्षित है गाम्भीर्य मेरा,
निषेध और अनुशासनमें
सोना उठना बैठना है।
'चुप रहो भी तो जरा'
'ज्यादा बोलना अच्छा नहीं'
'और भी कुछ खाना होगा'—
ये हैं आदेश निर्देश
कभी भर्त्सनामें, कभी अनुनयमें,
जिनके कण्ठसे ये निकलते हैं
उनके परित्यक्त खेल-घरमें
टूटे-फूटे खिलौनोंकी ट्रैजेडीमें
अभी तो कुछ ही दिन हुए, पड़ी है कैशोरकी यवनिका।
कुछ देर तो
स्पर्धासे विरोध करता रहता हूं,
फिर 'राजा-बेटा' बनकर
जैसे चलाते हैं वैसे ही चलता हूं।
मनमें मैं सोचता हूं,
वृद्ध भाग्य अपना शासन-भार
सौंपकर कुछ दिन नूतन भाग्यपर

दूर खड़ा कटाक्षसे हँसता है,
हँसा था जैसे बादशाह
आवूहुसेनका खेल
रचकर अन्तरालमें।
अमोघ विधिके राज्यमें बार-बार हुआ हूं विद्रोही ;
इस राज्यमें मान लिया है
उस दण्डको
जो मृणालसे भी कोमल है,
विद्युतसे भी स्पष्ट है
तर्जनी जिसकी।

'उदयन'
प्रभात : २३ नवम्बर

२०

रोग-दुःख-रजनीके निरन्ध्र अन्धकारमें
जिस आलोक-विन्दुको देखता मैं क्षण-क्षणमें।
मन-ही-मन सोचता हूं, क्या है उसका निर्देश ?
पथका पथिक जैसे खिड़कीके रन्ध्रसे
उत्सव-आलोकका पाता कुछ खण्डित आभास है,
उसी तरह रश्मि जो अन्तरमें आती है
यही जताती है—
उठते ही घने आवरणके
दिखाई देगी अविच्छेद
देश-हीन काल-हीन आदि-ज्योति,
शाश्वत प्रकाश-पारावार,
करता सूर्य जहां संध्या-स्नान,

जहाँ उठते हैं खिलते हैं
नक्षत्र महाकाय बुद्बुद समान ही,
वहाँ निशान्तका यात्री मैं
चैतन्य-सागर-तीर्थ-पथमें ।

२१

सवेरे ज्यों ही खुली आँख मेरी
फूलदानीमें देखा गुलाब-फूल ;
प्रश्न उठा मनमें — .
युग-युगान्तरके आवर्तनमें
सौन्दर्यके परिणाममें जो शक्ति लाई तुम्हें
अपूर्ण और कुत्सितके पीड़नसे बचाकर पद-पदपर
वह क्या अन्धी है, अथवा अन्यमनस्क है ?
वह भी क्या वैराग्य-व्रती साधु-सन्यासी सम
सुन्दर असुन्दरमें भेद नहीं करती कुछ —
उसके क्या केवल है ज्ञान-क्रिया, बल-क्रिया,
बोधका क्या वहाँ नहीं कुछ भी काम शेष है ?
कौन कर-करके तर्क कहते,
सृष्टिकी सभामें तो
सुन्दर और कुत्सित
दोनों ही बैठे हैं समान एक आसनपर —
नहीं बाधा प्रहरीकी यहाँ किसी तरहकी ?
मैं हूं कवि, तर्क नहीं जानता मैं,
मेरी दृष्टि देखती है विश्वको समग्र स्वरूपमें —
कोटि-कोटि ग्रह-तारा अनन्त आकाशमें
लिये-लिये फिरते हैं विश्वके सौन्दर्यको,
होता नहीं छन्द भङ्ग, सुर भी कहीं रुकता नहीं,

न विकृति न स्खलन कहीं ;
वो देखो, आकाशमें दे रहा दिखाई स्पष्ट
स्तर-स्तरमें फैलाकर पँखड़ियाँ
ज्योतिर्मय विश्वव्यापी
विशाल गुलाब है !

'उदयन'
प्रभात : २४ नवम्बर

२२

दिनके मध्याह्नमें
आधी-आधी नींद और आधा-आधा जागरण
सम्भव है सपनेमें देखा था—
मेरी सत्ताका आवरण
केंचुली-सा उतरा और जा पड़ा
अज्ञात नदी-स्रोतमें
साथ लिये मेरा नाम, मेरी ख्याति,
कृपणका संचय जो-कुछ भी था,
कलङ्की लिये स्मृति
मधुर क्षणोंके ले हस्ताक्षर ;
गौरव और अगौरव
लहरों-लहरोंमें बह जाता सब,
उसे न वापस ला सकता अब ;
मन-ही-मन करता तर्क—
मैं हूं 'मैं-शून्य' क्या ?
जो कुछ भी खोया मेरा, उसमें
सर्वाधिक वेदनाकी चोट लगी किसके लिए ?

अतीत नहीं मेरा वह
सुख-दुःखमें जिसके साथ
काटे दिन काटीं रात ।
मेरा वह भविष्य है
जिसे मैंने पाया नहीं कभी किसी कालमें,
जिसमें मेरी आकांक्षाने
वैसे ही जैसे बीज भूमि-गर्भमें
अंकुरित आशा लिये
अनागत आलोककी प्रतीक्षामें
देखा था दीर्घ स्वप्न दीर्घ-विस्तृत रातमें ।

'उदयन'
पराह्न : २४ नवम्बर

२३

आरोग्यकी राहमें
अभी-अभी पाया मैंने
प्रसन्न प्राणोंका निमन्त्रण,
दान किया उसने मुझे
नव-दृष्टिका विश्व-दर्शन ।
प्रभातके प्रकाशमें मग्न है वह नीलाकाश
पुरातन तपस्वीका
ध्यानासन,
कल्पके आरम्भका
अन्तहीन प्रथम मुहूर्त-क्षण
प्रकाशित कर दिया उसने
आज मेरे सामने ;

समझ गया उसी क्षण,
यही एक जन्म मेरा
नये-नये जन्मोंके सूत्रमें है गुँथा-हुआ।
सप्त-रश्मि सूर्यालोक-सम
वहन करता एक दृश्य
अदृश्य अनेक सृष्टि-धाराको।

'उदयन'
प्रभात : २५ नवम्बर

२४

भोरमें ही देखा आज निर्मल प्रकाशमें
निखिलका शान्ति-अभिषेक,
नतमस्तक हो वृक्षोंने धरणीको किया नमस्कार।
जो शान्ति विश्वके मर्ममें है ध्रुव प्रतिष्ठित
उसने की है रक्षा उनकी बार-बार
युग-युगान्तरोंके आघात-संघातमें।
विक्षुब्ध इस मर्त्यभूमिमें
सूचित किया है अपना आविर्भाव
दिवसके आरम्भ और शेषमें।
उसीके पत्र तो पाये हैं कविने, माङ्गलिक।
वही यदि अमान्य करे बनकर व्यंग-वाहक
विकृतिके सभासद्-रूपमें
चिर-नैराश्यका दूत,
टूटे-हुए यन्त्रके सुर-हीन झंकारमें
व्यंग करे इस विश्वके शाश्वत सत्यको
तो उसकी क्या है आवश्यकता ?

खेतोंमें घुसकर झाड़ काँटोंका
करता अपमान क्यों मानवकी क्षुधाका ?
स्वप्न यदि कहता रहे रोगको चरम सत्य,
उसकी उस स्पर्धाको समझूँगा लज्जा ही —
उससे तो बोले-बिना
अच्छा है आत्महत्या करना ही।
मनुष्यका कवित्व ही अन्तमें
होगा भाजन कलङ्कका
चलकर असंस्कृत चाहे-जिस पथपर।
करेगी क्या प्रतिवाद भला
स्वयंसुन्दर मुखश्रीका
निर्लज्ज नकल 'नकली-चेहरे'की ?

'उदयन'
प्रभात : २६ नवम्बर

२५

जीवनके दुःख-शोक-तापमें
वाणी एक ऋषिकी ही समाई मेरे चित्तमें
दिन-दिन होती ही रहती वह उज्ज्वलसे उज्ज्वलतर —
'विश्वका प्रकाश है आनन्द-अमृतके रूपमें।'
अनेक क्षुद्र विरुद्ध-प्रमाणोंसे
महानको करना खर्व सहज एक पटुता है।
अन्तहीन देश-कालमें महिमा है परिव्याप्त
केवल एक सत्यकी,
देखता है जो उसे अखण्ड-रूपमें
इस जगतमें उसीका जन्म सार्थक है।

२६

अपनी इस कीर्तिपर नहीं है विश्वास मेरा ।
मैं जानता हूं –
काल-सिन्धु इसे
निरन्तर निज तरङ्ग-आघातसे
दिनपर दिन करता ही रहेगा लुप्त,
अपना विश्वास मेरा अपने ही आपको ।
दोनों सांझ भर-भर उस पात्रको
इस विश्वकी नित्य-सुधाका
किया है मैंने पान ।
क्षण-क्षणका मेरा प्रेम
उसीमें तो होता रहा संचित है ।
किया नहीं विदीर्ण दुःख-भारने
मलिन नहीं किया कभी धूलिने
उसकी शिल्प-कलाको ।
यह भी है ज्ञात मुझे –
संसार-रङ्गभूमिको
जाऊंगा छोड़ जब
देंगे गवाही तब
कहकर यह पुष्प ऋतु-ऋतुमें –
मैंने किया प्यार निखिल विश्वको ।
यह प्रेम ही सत्य है, दान इस जन्मका,
लेते समय विदा
अम्लान हो यह सत्य मेरा
करेगा उपेक्षासे
अस्वीकार मृत्युको ।

२७

खोल दो, खोल दो द्वार ;
कर दो अवारित नीलाकाशको
कौतूहली पुष्प-गन्धको करने दो प्रवेश मेरे कक्षमें ;
प्रथम आलोक सूर्य-किरणोंका
होने दो संचार नस-नसमें ;
'मैं जीवित हूँ'—यह वाणी अभिनन्दनकी
मर्मरित हो रही पल्लव-पल्लवमें—
मुझे सुनने दो ;
यह प्रभात
ढक देने दो इसे अपने उत्तरीयसे मेरे मनको
जैसे वह ढक देता है नव-शस्य-श्यामल प्रान्तरको ।
प्रेम जितना भी पाया है अपने इस जीवनमें,
उसकी निःशब्द भाषा
सुन रहा आकाश और वातासमें ;
उसके पुण्य-अभिषेकमें करूंगा स्नान मैं ।
समस्त जन्मके सत्यको एक रत्नहार-रूपमें
शोभित मैं देख रहा उस नीलिमाके कण्ठमें ।

'उदयन'
प्रभात : २८ नवम्बर

२८

चैतन्य-ज्योति जो
प्रदीप्त है मेरे अन्तर-गगनमें
नहीं वह 'आकस्मिक वन्दिनी' प्राणोंकी संकीर्ण सीमामें,
आदि जिसका शून्यमय, अन्तमें जिसकी मृत्यु है निरर्थक,

मध्यमें कुछ क्षण
'जो-कुछ है' उसीका अर्थ वह करती उद्भासित है।
'यह चैतन्य विराजित है अनन्त आकाशमें
आनन्द-अमृतके रूपमें' –
प्रभातके जागरणमें
ध्वनित हो उठी आज यही एक वाणी मेरे मर्ममें,
यह वाणी गूथती चलती है ग्रह-तारा
अस्खलित छन्द-सूत्रमें अनिःशेष सृष्टिके उत्सवमें।

२६

दुःसह दुःखके घरम
मानवको देख रहा निरुपाय असहाय,
समझमें न आता कुछ
कहाँ उसकी सान्त्वना है ?
अपनी ही मूढ़तामें, अपने ही रिपुओंके प्रश्रयमें
इस दुःखका मूल है, जानता हूं ;
किन्तु उस जाननेमें आश्वास नहीं पाता हूं।
जान ली यह बात जब –
मानव-चित्तकी साधनामें
गूढ़ है रूप जो सत्यका
वह सत्य सुख-दुःख सबके अतीत है,
तब समझ जाता हूं,
अपनी आत्मामें जो हैं
फलवान करते उसे
वे ही चरम लक्ष्य हैं मानवकी सृष्टिके ;
एकमात्र वे ही हैं, और कोई नहीं।

और जो हैं सब
मायाके प्रवाहमें छाया समान हैं।
दुःख उनका सत्य नहीं,
सुख है विडम्बना,
उनकी क्षत-पीड़ा धारण कर भीषण-आकृति
प्रति क्षण लुप्त होती रहती है।
रखती नहीं कोई भी चिह्न इतिहासमें।

'उदयन'
प्रभात : २९ नवम्बर

३०

सृष्टिका चल रहा खेल है
चारों ओर शत-सहस्र धारामें
कालका असीम शून्य पूर्ण करनेको।
सामने जो-भी-कुछ ढालता है,
पीछे बार-बार अतल-तलमें जा विलीन हो जाता वह,
निरन्तर लाभ और क्षति,
इन्हींसे मिलती है उसे गति।
कविका खेल है छन्दका, वह भी तो रह-रहकर
निश्चिह्न कालकी देहपर अङ्कन है चित्रोंका।
काल चला जाता है, पड़ा रह जाता शून्य।
यह 'लिखना-मिटाना' ही है काव्यकी चञ्चल मरीचिका
वह भी छोड़ देती स्थान,
परिवर्तमान जीवन-यात्राकी करती है चलमान टीका।
मनुष्य निज-अंकित कालकी सीमामें
रचता है सान्त्वना असीमकी झूठी महिमासे,

भूल जाता यह, न-जाने कितने युगोंका वाणी-रूप
निःशब्दका निष्ठुर कठोर व्यंग
ढोता ही चला आता है भूमिके गर्भमें ।

३१

आजकी अरण्य-सभाको
अपवाद देते हो बार-बार,
दृढ़ कण्ठसे कहते जब अहंकृत आप्तवाक्य-वत्
प्रकृतिका अभिप्राय है, 'नवीन भविष्यत्
गायेगा विरल-रसमें शुष्कताका गान' —
वन-लक्ष्मी न करेगी अभिमान ।
जानते हैं सभी इस बातको —
जिस संगीतके रसमें
होते ही प्रभातके
आनन्दमें मत्त होती आलोक-सभा
वह तो हेय है
और अश्रद्धेय है,
प्रमाणित करनेको अपनी बात
ऐसे ही बराबर बढ़ते ही चलेंगे वे ।
वनके विहंग प्रतिदिन
संशय-विहीन
चिरन्तन वसन्तकी स्तव-गाथासे
आकाश करेंगे पूर्ण
अपने आनन्दित कलरवसे ।

'उदयन'
प्रभात : ३० नवम्बर

३२

नित्य ही प्रभातमें पाता हूं प्रकाशके प्रसन्न स्पर्शमें
अस्तित्वका स्वर्गीय सम्मान,
ज्योतिःस्रोतमें मिल जाता है रक्तका प्रवाह मेरा,
देह-मनमें ध्वनित हो उठती है ज्योतिष्ककी नीरव वाणी।
प्रतिदिन ऊपरको दृष्टि किये
बिछाये ही रहता हूं आंखोंकी अंजलि मैं।
मुझे दिया है प्रकाश यह जन्मकी प्रथम अभ्यर्थनाने,
अस्त-सागरके तीरपर उस प्रकाशके द्वारपर
बना रहेगा मेरा जीवनका निवेदन शेष।
लगता है ऐसा कुछ
वृथा वाक्य कहता हूं, पूरी बात कह न सका ;
आकाश-वाणीके साथ आत्माकी वाणीका
बँधा नहीं स्वर अभी पूर्णताके स्वरमें,
करूं क्या, भाषा नहीं मिली जो।

'उदयन'
प्रभात : १ दिसम्बर '४०

३३

बहुत दिन पहले तुमने दी थी मुझे बत्ती-धूप,
आज उसके धुएँमेंसे निकल रहा सुन्दर रूप ;
मानो किसी पौराणिक आख्यानमें
स्तब्ध मेरे ध्यानमें
धीर पदक्षेपसे आई कोई मालविका
लिये शुभ्र दीप-शिखा

महाकाल-मन्दिरके द्वारपर
न-जाने किस युगान्तरके पारपर।
आई हो सद्य स्नान करके तुम
तुम्हारी सिक्त वेणी लिपट गई ग्रीवासे,
मृदु गन्ध आती चन्दनकी
अङ्गकी बयारसे।
ऐसा जान पड़ता है
हो तुम पुजारिनी,
बार-बार देखा तुम्हें,
परिचय हुआ बार-बार,
आतीं तुम मृदु-मन्द पद-क्षेपसे
चिरकालकी वेदी-तले
चुन-चुनकर पुष्प नाना
पूजाके
शुचि-शुभ्र वसन-अञ्चलमें।
अपनी आँखोंकी शान्त स्निग्ध दृष्टिमें
पौराणिक वाणीको वहन कर लातीं तुम
वर्तमान-युगकी इस भाषाकी सृष्टिमें।
सुललित हाथोंके कङ्कणमें
प्रिय-जन-कल्याणकी है कामना।
आत्म-विस्मृत तुम्हारी प्रीति
आदि-सूर्योदयसे
वहा लाती धारा है उज्ज्वल प्रकाशकी।
सुदूर कालसे करमें लिये सेवा-रस आईं तुम
आतप्त ललाट मेरा हो रहा शान्त आज तुम्हारे ही स्पर्शसे।

'उदयन'
प्रभात : २ दिसम्बर

३४

अपनी वीणामें अन्यमनस्क सुरमें जब
बाँधा था गान अपना अकेले ही बैठकर
तब भी तो थीं तुम दूर,
दर्शन तक दिये नहीं।
कैसे मैं जानूं, आज मेरा वही गान
अपरिचयके तटपर जा तुम्हारा ही कर रहा सन्धान है।
देखा आज, ज्यों ही तुम आतीं पास
तुम्हारी गतिके तालमें बज उठी मेरी छन्दध्वनि;
जान पड़ा, सुरके उस मेलमें
उच्छ्वसित हो उठा आनन्दका निश्वास सारे विश्वमें।
सालों-साल पुष्पवनमें पुष्प नाना खिलते और झरते हैं
सुरके उस मिलनपर ही मरते हैं।
कविके सङ्गीतमें फैलाकर अञ्जली जाग रही वाणी है
अनागत प्रसादकी प्रतीक्षामें।
चल रहा खेल लुकाचोरीका अनिवार्य एक विश्वमें
अपरिचितके साथ अपरिचितका।

'उदयन'
प्रभात : २ दिसम्बर

३५

आँधी-तूफानके बाद जैसे
आकाशका वक्षस्थल करता अनावृत है
उदयाचलका ज्योतिःपथ
गम्भीर निस्तब्ध नीलिमामें,

वैसे ही मुक्त हो
जीवन मेरा
अतीतके वाष्प-जालसे,
सद्य-नव जागरण
कर उठे त्वरा शङ्खध्वनि
इस जन्मके नव-जन्म-द्वारपर।
कर रहा प्रतीक्षा मैं—
पुँछ जाय रंगका प्रलेप यह उज्ज्वल प्रकाशसे,
मिट जाय खेल व्यर्थका
खिलौना बना अपनेको,
निरासक्त मेरा प्रेम अपने ही दाक्षिण्यसे
पा जाय निज मूल्य शेष।
आयुके स्रोतमें बहता चला जाऊं जब
अँधेरे-उजालेमें
तट-तटपर देखता फिरूं न मैं
मुड़-मुड़कर अपनी अतीत कीर्तिको;
अपने सुख-दुःखमें
निरन्तर जो लिप्त 'मैं'
अपनेसे बाहर ही कर सकूं उसकी स्थापना
संसारकी असंख्य बहती-हुई घटनाकी सम-श्रेणीमें,
निःशङ्क निस्पृह द्रष्टाकी दृष्टिसे देखूं उसे
अनात्मीय-निर्वासनके रूपमें।
यही मेरी शेष वाणी,
कर देगी सम्पूर्ण मेरे परिचयको असीम शान्त शुभ्रता।

'उदयन'
प्रभात : ३ दिसम्बर

३६

जो-कुछ भी चाहा था एकान्त आग्रहसे
उसके चारों ओरसे
बाहुकी वेष्टनी जब होती दूर,
तब बन्धनसे मुक्त उस क्षेत्रमें
जो चेतना होती उद्भासित है
प्रभात-किरणोंके साथ
देख रहा हूं उसीका अभिन्न स्वरूप आज ।
शून्य है, तो भी वह शून्य नहीं ।
समझ जाता हूं उसी क्षण ऋषिकी वाणी यह –
आकाश आनन्दपूर्ण होता नहीं कहीं तो
देह-मन प्राण मेरे निष्क्रिय हो जाते सब जड़ताके नागपाशमें ।
कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात्
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।

'उदयन'
प्रभात : २ दिसम्बर

३७

धूसर गोधूलि-लग्नमें सहसा देखा एक दिन
मृत्युकी दक्षिण-बाहु जीवनके कण्ठमें लिपटी है,
रक्त-सूत्रसे बँधी है ;
उसी क्षण पहचान गया जीवन और मरणको ।
देखा फिर, ले रही यौतुक है मरण-वधू, वरका जो चरम दान ;
दाहने हाथमें लेकर उसे चली है वह युगान्तरको ।

'उदयन'
प्रभात : ४ दिसम्बर

३८

धर्मराजने दिया जब ध्वंसका आदेश तब
अपनी हत्याका भार अपने ही हाथमें
ले लिया मानव-समाजने।
पीड़ित मनसे सोचा है बार-बार –
'पथभ्रष्ट पथिक ग्रहके अकस्मात् अपघातसे
एक ही विशाल चितानलमें क्यों नहीं जलती आग
एक महा सहमरणकी!'
अब फिर सोचता हूं, हाय –
दुःख-शोक-तापसे पापोंका हुआ नहीं क्षय तो
प्रलयके भस्म-क्षेत्रमें बीज उसका पड़ा ही रहेगा सुप्त,
कण्टकित हो उठेगी छाती नवीन सृष्टिकी।

३९

तुम्हें देख नहीं पाता तो अनुभूति होती ऐसी-कुछ आर्त कल्पनामें,
पाँव-तले पृथिवी आज चुपचाप कर रही गुप्त मन्त्रणा –
स्थानच्युत होगी वह, हट जायगी है जहाँसे।
दृढ़तासे पकड़ना चाहता मन उत्कण्ठित हो आकाशको
ऊपर उठाके हाथ दोनों बाँहसे।
चौंक उठता अचानक ही, स्वप्न जाता टूट मेरा ;
देखूं तो, मस्तक झुकाये तुम कर रहीं बुनाई कुछ बैठी-बैठी सामने,
करके समर्थन तुम मानो कह रही हो, 'अमोघ है शान्ति सृष्टिकी।'

'उदयन'
प्रभात : ५ दिसम्बर १९४०

शेष वाणी

१

सामने है शान्ति-पारावार,
बहा दो तरणी, हे कर्णधार।
होंगे तुम्हीं मेरे चिर-साथी,
लो उठा मुझे, अपनी गोदमें ले लो,
असीमके पथमें जलने दो
ज्योति ध्रुवताराकी।

मुक्तिदाता, तुम्हारी क्षमा, तुम्हारी दया
होगी चिर-यात्रामें पाथेय मेरा।

हो जाय मर्त्यका बन्धन क्षय,
विशाल विश्व ले ले मुझे गोदमें हाथ पसारकर,
मिल जाय निर्भय परिचय
महा-अपरिचितका अन्तरात्मामें।

'डाकघर'के लिए लिखित और
कविके तिरोधानके दिन पठित

२

राहु-सी मृत्यु
डालती छाया केवल,
कर नहीं सकती ग्रास जीवनके स्वर्गीय अमृतको
जड़के कवलमें—
निश्चित जानता हूं मनमें इस बातको।

प्रेमका असीम मूल्य
ठग ले सम्पूर्ण कोई
ऐसा दस्यु नहीं गुप्त कहीं
निखिलके गुहा-गह्वरमें –
निश्चित जानता हूं मनमें इस बातको।
सबसे बढ़कर 'सत्य'-रूपमें पाया था जिसे
सबसे बढ़कर 'असत्य' था उसमें छद्मवेश धारणकर,
अस्तित्वका यह कलङ्क कभी
सहता नहीं विश्वका विधान है –
निश्चित जानता हूं मनमें इस बातको।
सब-कुछ चल रहा निरन्तर परिवर्तन-वेगमें,
यही है धर्म कालका।
मृत्यु दिखाई देती आ एकान्त अपरिवर्तनमें,
इसीसे इस विश्वमें वह सत्य नहीं –
निश्चित जानता हूं मनमें इस बातको।
विश्वको जाना था जिसने 'है' के रूपमें
वही हूं उसका 'मैं'
अस्तित्वका साक्षी वही,
'परम-मैं' के सत्यमें सत्य है उसका –
निश्चित जानता हूं मनमें इस बातको।

७ मई १९४०

३

ओरे विहंग मेरे,
रह-रहकर भूलता क्यों स्वर है,
गाता ही जा, रुकता क्यों है ?

वाणी-हीन प्रभात हुआ जाता जो व्यर्थ है
जानता नहीं क्या इतना भी तू?
अरुण-प्रकाशका प्रथम स्पर्श
तरु-लताओंमें लग रहा,
उनके कम्पनमें तेरा ही तो स्वर
पत्ते-पत्तेमें जाग रहा—
भोरके उजालेका मीत है तू,
जानता नहीं क्या इतना भी तू?
जागरणकी लक्ष्मी यह रही
मेरे सिरहानेपर
बैठी है आँचल पसारे
जानता नहीं क्या इतना भी तू?
गानके दानमें उसे
करना न वंचित तू।
दुख-रातके स्वप्न-तले
तेरी प्रभाती न-जाने क्या तो बोल रही
नवीन प्राणकी गीता,
जानता नहीं क्या इतना भी तू?

'उदयन'
संध्या : १७ फरवरी '४१

४

कड़ी धूपकी लपटें हैं
जनहीन दोपहरीमें।
सूनी चौकीकी ओर देखा मैंने,
वहाँ भी तो सान्त्वनाका लेश नहीं।

छाती-भरी हताशाकी माया
मानो करती हाहाकार है।
शून्यताकी वाणी उठती करुणा-भरी,
मर्म उसका पकड़ाई देता नहीं।
मृत मालिकका कुत्ता जैसे
करुण दृष्टिसे देखता है,
नासमझ मनकी व्यथा वैसे ही करती है हाय-हाय;
क्या हुआ, क्यों हुआ, कुछ भी न समझता है—
दिन-रात व्यर्थ दृष्टिसे चारों ओर
केवल वस ढूंढ़ता ही फिरता है।
चौकीकी माया मानो और भी है करुण-कातर,
शून्यताकी मूक व्यथा हो रही व्याप्त प्रियजन-विहीन घरमें।

'उदयन'
संध्या : २६ मार्च '४१

५

फिरसे और-एक बार
ढूँढ़ दूंगा वह आसन तुम्हारा
गोदमें जिसकी बिछी है
विदेशकी सम्मान-वाणी।
अतीतके भागे-हुए स्वप्न
फिरसे आ करेंगे भीड़,
अस्फुट गुञ्जनके स्वरमें
फिरसे रच देंगे नीड़।
आ-आकर सुखस्मृतियाँ करेंगी जागरण मधुर,
बाँसुरी जो नीरव हुई, लौटा लायेंगी उसका सुर।

बाहें रख वातायनमें
वसन्तके सौरभ-पथमें,
महानिःशब्दकी पदध्वनि
सुनाई देती निशीथ-जगतमें।
विदेशके प्यारसे जिस प्रेयसीने बिछाया है आसन,
चिरकाल रखेगा बाँध कानोंमें उसीका भाषण।
भाषा जिसकी नहीं थी ज्ञात, आँखोंने ही की थी बात,
जगाये रखेंगी चिरकाल उसकी सकरुण बातें ही।

'उदयन'
मध्याह्न : ६ अप्रेल '४१

६

आ रहा महामानव, वो देखो!
दिशा-विदिशाओंमें हो रहा रोमांच है
मर्त्य-धूलिकी घासपर।
सुरलोकमें बज उठा शंख है,
नरलोकमें बजता जयडङ्क है –
आया महाजन्मका पुनीत लग्न।
आज अमा-रात्रिके जितने थे दुर्ग-तोरण
वे धूलि-तले हो गये सभी भग्न।
उदय-शिखरपर जाग रहा 'माभैः माभैः' रव
नव-जीवनके आश्वाससे।
'जय जय जय रे मानव-अभ्युदय!'–
मन्द्रघोष हो उठा आकाशमें।

'उदयन'
१ वैशाख १९९८

७

जीवन है पवित्र, जानता हूं,
अचिन्त्य स्वभाव उसका,
अज्ञेय रहस्य-उत्ससे
पाया है प्रकाश उसने
किस अलक्षित पथसे –
मिलता न सन्धान उसका।
प्रतिदिन नवीन निर्मलताने
दिया उसे सूर्योदय
लाखों योजन दूरसे
भरकर स्वर्ण-घटमें आलोककी अभिषेक-धारा।
दी वाणी उस जीवनने दिन और रातको,
रचा वन-फूलोंसे अदृश्यका पूजा-थाल,
आरतीका दीप दिया जाल
निःशब्द नीरव प्रहरमें।
निवेदन किया चित्तने
जन्मका प्रथम प्रेम उसे।
प्रतिदिनका समस्त प्रेम
अपने ही आदि-जादूके स्पर्शसे
जाग्रत हो उठता है ;
प्रियाको किया है प्यार मैंने,
प्यार किया फूलोंकी कलियोंको ;
जिनका भी स्पर्श किया उन सबको
बना लिया अन्तरतम।
जन्मके प्रथम ग्रन्थमें लाते हैं अलिखित पत्र हम,
दिनपर दिन भरते ही रहते वे वाणी-ही-वाणीमें

परिचय अपना गुँथता ही चलता है
हो उठता है परिस्फुट चित्र दिनान्तमें,
पहचान जाता है अपनेको
रूपकार अपने ही स्वाक्षरमें,
फिर मिटा देता है वर्ण उसका रेखा उसकी
उदासीन चित्रकार स्याह-काली स्याहीसे ;
मिटाई नहीं जा सकती सुवर्णकी लिपि कुछ-कुछ,
ध्रुवताराके पास ही
जाग रही ज्योतिष्ककी लीला है ।

'उदयन'
२५ अप्रेल १९४१

८

विवाहके पाँचवें वर्षमें
यौवनका निविड़ स्पर्श
गोपन रहस्य-पूर्ण
परिणत रस-पुञ्ज अन्तर-ही-अन्तरमें
पुष्पकी मञ्जरीसे फलके स्तवकमें
वृन्तसे त्वकमें
सुवर्ण-विभामें कर देता व्याप्त है ।
संवृत सुमन्द गन्ध अतिथिको घरमें बुला लाती है।
संयत शोभा
पथिकके नयन लुभाती है ।
पाँच वर्षकी विकसित वसन्तकी माधवी-मंजरीने
भर दी सुधा मिलनके स्वर्णपात्रमें ;
मधु-संचयके बाद
मधुपको कर दिया मुखर है ।

शान्त आनन्दके आमंत्रणने
बिछा दिये आसन रवाहूत अनाहूत जनोंको।
विवाहके प्रथम वर्षमें
दिग-दिगन्तरमें
शहाना रागिनीमें वजी थी बांसुरी,
उठी थी कल्लोलित हँसी भी—
आज स्मितहास्य खिल उठा प्रभातके मुँहपर
नीरव कौतुकसे।
बांसुरी बज रही कनाड़ाकी सुगभीर तानमें
सप्तर्षिके ध्यानके आह्वानमें।
पांच वर्षके पुष्पित विकसित सुख-स्वप्नोंने
पूर्णताका स्वर्ग मानो ला दिया संसारमें।
पंचम-वसन्त राग आरम्भमें बज उठा था,
सुर और तालमें वह पूर्ण हो उठा आज;
पुष्पित अरण्य-पथपर प्रति पदक्षेपमें
नूपुरमें बजता है वसन्त-राग आज।

'उदयन'
प्रभात : २५ अप्रेल '४१

६

वाणीकी मूर्ति गढ़ रहा हूं
एकाग्र मनसे
बैठा निर्जन प्राङ्गणमें
पिण्ड-पिण्ड मिट्टी उसकी
बिखरी पड़ी है चारों ओर—
असमाप्त मूक
शून्यको ही देख रही निरुत्सुक।

गर्वित मूर्तिका पदानत
मस्तक झुका ही रहता है,
'क्यों' का उत्तर न दे सकता कुछ भी।
उससे भी कहीं ज्यादा शोचनीय बात यह —
पाया था रूप किसी कालने
उसका भी रूप, हाय, क्रमशः विलीन हुआ
गतिशील कालकी अर्थ-व्यर्थतामें।
निमंत्रण था कहाँ, पूछा उससे,
उत्तर न मिला कुछ —
किस स्वप्नको बाँधनेको
होकर धूलिका ऋण
दिखाई दिया
मानवके द्वारपर ?
विस्मृत स्वर्गकी किस
उर्वशीके चित्तको
धरणीके चित्तपटपर
बाँधना चाहा था
कविने —
तुम्हें तो वाहनके रूपमें
बुलाया था,
चित्रशालामें रखा था यत्नसे,
न-जाने कब अन्यमनस्क हो भूल गया वह
आदिम आत्मीय तुम्हारी धूलिको,
असीम वैराग्यमें दिग्विहीन पथमें
उठा लिया उसे अपने वाणी-हीन रथमें।
अच्छा है, यही अच्छा,
विश्वव्यापी धूसर सम्मानमें

आज पंगु कूड़ेका ढेर
प्रतिदिनकी लाञ्छना
कालके प्रति पदक्षेपमें
बाधा ही दे रही बार-बार,
किन्तु पदाघातसे जीर्ण अपमानसे
पाती है शान्ति अवशेषमें
मिलती जब फिरसे वह धूलिमें ।

'उदयन'
प्रभात : ३ मई १९४१

१०

अपने इस जन्म-दिनमें आज 'मैं'-शून्य मैं
चाहता हूं बन्धु-जनोंको
जिनके हाथके स्पर्शसे
मर्त्यके अन्तिम प्रीति-रससे
ले जाऊंगा जीवनका चरम प्रसाद,
ले जाऊंगा मानवका शेष आशीर्वाद ।
शून्य झोली है आज मेरी ;
मैंने उजाड़ कर दी है भरी झोली
जो-कुछ भी देनेका था देकर,
कुछ भी यदि पाऊं प्रतिदानमें –
स्नेह कुछ, क्षमा कुछ –
तो मैं उसे साथ ले जाऊंगा
भाषा-हीन अन्तके उत्सवमें ।

'उदयन'
प्रभात : ६ मई १९४१

११

एक दिन रूपनरान-नदीके तीर
जाग उठा, जान गया –
यह जगत स्वप्न नहीं।
रक्ताक्षरोंमें देखा
अपना रूप,
पहचान गया अपनेको
आघात-आघातमें, वेदना-वेदनामें ;
सत्य जो कठोर है,
कठोरको किया प्यार,
कभी किसीसे वह करता नहीं वञ्चना।
आमृत्यु दुःख ही की तपस्या है यह जीवन,
सत्यका कठोर मूल्य पानेको
मृत्युसे समस्त ऋण चुकानेको।

'उदयन'
शेषरात्रि : १३ मई ४१

१२

तुम्हारे जन्म-दिनके दान-उत्सवमें
विचित्र सुसज्जित है आज यह
प्रभातका उदय-प्रांगण।
नवीनके खुले हैं दानसत्र असंख्य मानो
पुष्प-पुष्पमें पल्लव-पल्लवमें।
प्रकृति परीक्षा कर देखती है
क्षण-क्षणमें भण्डार अपना,
तुम्हें सम्मुख रख पाया यह सुयोग उसने !

दाता और ग्रहीताका संगम करानेको
नित्य ही आग्रह है विधाताका,
आज वह सार्थक हुआ,
विश्वकवि उसीके विस्मयमें
देते तुम्हें आशीर्वाद –
उनके कवित्वके साक्षी-रूपमें
दिये हैं तुमने दर्शन
वृष्टि-धौत श्रावणके
निर्मल आकाशमें।

'उदयन'
प्रभात : १३ जुलाई ४१

१३

प्रथम दिनके सूर्यने
किया था प्रश्न एक
सत्ताके नूतन आविर्भावमें –
'कौन हो तुम ?'
मिला नहीं उत्तर कुछ।
वर्षों यों ही बीत गये,
दिवसका शेष सूर्य
शेष प्रश्न करता है
पश्चिम-सागर-तीरपर
निस्तब्ध संध्यामें –
'कौन हो तुम ?'
मिला नहीं उत्तर कुछ।

वास-भवन : जोड़ासाँको कलकत्ता
प्रभात : २७ जुलाई १९४१

१४

दुःखकी अँधियारी रात
आई है बार-बार
मेरे इस द्वारपर ;
एकमात्र देखा था अस्त्र उसका
कष्टका विकृत भान, त्रासकी विकट भंगिमा —
छलनाकी भूमिका अन्धकारमें।

भयका नकली-चेहरा देख विश्वास किया जितनी बार
उतनी ही बार हुआ पराजय व्यर्थका।
यह हार-जीतका खेल, जीवनकी झूठी माया यह,
शिशुकालसे विजड़ित है पद-पदमें विभीषिका,
दुःखमय परिहास-पूर्ण।
भयका विचित्र है चलचित्र —
मृत्युका निपुण शिल्प है विकीर्ण अन्धकारमें।

कलकत्ता
सायाह्न : २९ जुलाई ४१

१५

अपनी सृष्टिका पथ कर रखा है आकीर्ण तुमने
विचित्र छलना-जालमें,
हे छलनामयी !
मिथ्या विश्वासका बिछाया जाल निपुण हाथोंसे
सरल जीवनमें।
इसी प्रवंचनासे महत्त्वको किया चिह्नित है;
छोड़ी नहीं उसके लिए कहीं गुप्त रात्रि भी।

तुम्हारा ज्योतिष्क उसे
जो पथ दिखाता है
उसकी अन्तरात्माका पथ है वह,
चिर-स्वच्छ है वह,
सहज विश्वाससे
उसे वह बनाये रखता है चिर-समुज्ज्वल।
बाहर भले ही हो कुटिल, अन्तरात्मामें है ऋजु,
इसीमें उसका गौरव है।
लोग कहते उसे 'विड़म्बित' हैं।
सत्यको वह पाता है
अपने स्वच्छ प्रकाशमें
प्रकाश-धौत ज्ञानमें।
कोई भी न कर सकता उसे प्रवञ्चित,
शेष पुरस्कार ले जाता वह
अपने भण्डारमें।
अनायास ही सह लेता जो जगतकी छलनाएँ
पाता वह तुम्हारे हाथ
शान्तिका अक्षय अधिकार है।

अन्तिम रचना
वास-भवन : जोड़ासाँको कलकत्ता
प्रातःकाल साढ़े नौ बजे : बुधवार
३० जुलाई १९४१ : १४ श्रावण १९९८

इसी दिन (३० जुलाई) गुरुदेवके शरीरमें अस्त्रोपचार हुआ; और उसके दसवें दिन श्रावणी-पूर्णिमा १९९८ (८ अगस्त १९४१) को उनका स्वर्गवास हो गया।

आरोग्य

बहुत लोग आये थे जीवनके प्रथम प्रभातमें —
खेलके साथी कोई, कोई थे कौतूहली,
कोई साथ देने काममें, कोई बाधा देनेको।
आज जो पासमें हो, मेरे इस निस्व-प्रहरमें,
परिश्रान्त प्रदोषके अवसन्न निस्तेज प्रकाशमें
तुम सब आये हो अपना दीप ले हाथमें,
पारकी नाव छूटनेके पहले तटका विदाई-स्पर्श देनेको।
तुम सभी हो पथिक-बन्धु,
जैसे रातके तारे हैं
अन्धकारमें लुप्त-पथ यात्रीके शेष क्लिष्ट क्षणोंमें।

'उदयन' : शान्ति-निकेतन
प्रभात : ४ फरवरी १९४१

आरोग्य

१

विराट मानव-चित्तमें
अकथित वाणी-पुञ्ज
अव्यक्त आवेगसे आवर्तन करता है
कालसे कालान्तरमें
नीहारिका-सम महाशून्यमें।
वाणी वह मेरी मनःसीमाके
सहसा आघातसे होकर छिन्न
घनीभूत हुई है रूपके आकारमें,
मेरे रचना-कक्ष-पथमें।

'उदयन'
प्रभात : ५ दिसम्बर '४०

२

ख्याति निन्दा पार हो आया हूं जीवनके प्रदोषमें,
विदाके घाटपर बैठा हूं।
अपनी इस देहपर
असंशय किया था विश्वास मैंने,
जराका मौका पा आज वह
कर रही अपना ही परिहास है,
सभी कामोंमें देखता हूं अब तो वह
बार-बार घटाती है विपर्यय
मेरे कर्तृत्वको करती रहती है सदा क्षय।

उस अपमानसे बचानेको मुझे
जो अविश्राम दे रहे पहरा यहाँ,
आस-पास खड़े हैं जो दिनान्तका शेष आयोजन ले,
बताऊँ या न बताऊँ नाम उनका,
मनमें है स्थान उनका,—याद रहेंगे वे।
दिया है उन्होंने सौभाग्यका परिचय शेष
भुलाये रखा है मुझे दुर्बल प्राणके पराजयसे ;
स्वीकार वे करते हैं इस बातको—
ख्याति-प्रतिष्ठा तो सुयोग्य समर्थोंके लिए है ;
वे ही कर रहे प्रमाणित हैं—
अक्षमके भाग्यमें है जीवनका श्रेष्ठ दान।
जीवन-भर ख्यातिका खजाना देना पड़ता है,
माफी नहीं, छूट नहीं, नहीं फारखती है,
अपचयका लेश नहीं उसकी जमींदारीमें ;
समस्त मूल्य समाप्त हो जानेपर
जो दैन्य लाता है अर्घ्य प्रेमका
असीमके स्वाक्षर तो वहीं हैं।

उदयन
प्रभात : ९ जनवरी १९४१

३

परम सुन्दर
आलोकके इस स्नान-पुण्य प्रभातमें।
असीम अरूप
रूप-रूपमें स्पर्शमणि
कर रही रचना है रसमूर्तिकी,

प्रतिदिन
चिर-नूतनका अभिषेक होता
चिर-पुरातनकी वेदी-तले।
नीलिमा और श्यामल ये दोनों मिल
धरणीका उत्तरीय बुन रहे हैं
छाया और आलोकसे।
आकाशका हृदय-स्पन्दन
तरु-लताके प्रति-पल्लवको झूला झुलाता है।
प्रभातके कण्ठका मणिहार झिलमिलाता है।
वनसे वनान्तरमें
विहंगोंका अकारण गान
साधुवाद देता ही रहता है जीवन-लक्ष्मीको।
सब-कुछ मिल एकसाथ मानवका प्रेम-स्पर्श
देता है अमृतका अर्थ इसे,
मधुमय कर देता है धरणीकी धूलिको,
यत्र-तत्र सर्वत्र ही बिछा देता है
सिंहासन चिर-मानवका।

'उदयन'
दोपहर : १२ जनवरी

४

नगाधिराजके सुदूर नारङ्ग-निकुञ्जके रसपात्र सब
ले आये हैं मेरी शय्याके निकट अब
जन-हीन प्रभात-रविकी मित्रता,
अज्ञात निर्झरिणीके
विच्छुरित आलोकच्छटाकी
हिरण्मय लिपि,

सुनिविड़ अरण्य-वीथिकाके
निःशब्द मर्मर विजड़ित
स्निग्ध हृदयके दौत्यको।
रोग-पंगु लेखनीकी विरल भाषाके इङ्गितमें
भेजता है कवि
सन्देश आशीर्वादका।

५

नारी, धन्य हो तुम —
घर है, घरका काम-धन्धा भी।
उसमें रख छोड़ी है दरार कुछ थोड़ी-सी।
वहाँसे कानोंमें आ प्रवेश करता —
बाहरके दुर्बलको बुलाती हो तुम।
लाती हो शुश्रूषाकी डाली,
स्नेह उँड़ेल देती हो।
जीव-लक्ष्मीके मनमें जो पालनकी शक्ति है विद्यमान,
नारी तुम नित्य ही सुना करती हो उसका आह्वान।
सृष्टि-विधाताका
लिया है कार्य-भार,
हो तुम नारी
उनकी निजी सहकारी।
उन्मुक्त करती रहती हो आरोग्यका पथ,
नित्य नवीन करती रहती हो जीर्ण जगत
श्रीहीन जो है उसपर तुम्हारे धैर्यकी सीमा नहीं,
अपने असाध्यसे वे ही खींच रहे हैं दया तुम्हारी,
बुद्धिभ्रष्ट असहिष्णु करते हैं बार-बार अपमान तुम्हारा,
आँखें पोंछकर फिर भी तुम करती हो क्षमा उन्हें देकर सहारा।

अकृतज्ञताके द्वारपर आघात सहती हो दिन-रात,
सब-कुछ लेती हो झुका मस्तक और फैला हाथ।
जो अभागा आता नहीं किसी काममें
प्राण-लक्ष्मी जिसे फेंक देती है घूरेमें,
उसे भी लाती हो उठाकर तुम,
लाञ्छनाका ताप उसका मिटाती हो
अपने स्निग्ध हाथसे।
देवताकी पूजा-योग्य तुम्हारी सेवा है मूल्यवान
अनायास ही उसे तुम अभागेको कर देतीं दान।
विश्वकी पालनी-शक्तिकी धारिका हो तुम शक्तिमती
माधुरीके रूपमें।
भ्रष्ट जो हैं, भग्न जो हैं, जो हैं विरूप और विकृत
उन्हींके निमित्त हो तुम सुन्दरके हाथका परम अमृत।

'उदयन'
प्रभात : १३ जनवरी ४१

६

रोग और जरामें जब इस देहसे
दिनपर दिन सामर्थ्य झरता ही रहता है
यौवन तब पुराने इस नीड़को धोखा दे
पड़ा पीछे छोड़ जाता है,
केवल शैशव ही बाकी रह जाता है।
आबद्ध घरमें कार्य-क्षुब्ध संसारके बाहर
अशक्त शिशु-चित्त यह
'मा' ही 'मा' ढूंढ़ता फिरता है।
वित्त-हीन प्राण लुब्ध हो जाते हैं
बिनामूल्य स्नेहका प्रश्रय किसीसे भी पानेको।

जिसका आविर्भाव
क्षीण-जीवितको करता दान
जीवनका प्रथम सम्मान।
'बने रहो तुम'—मनमें ले इतनी-सी चाहना
कौन जता सकता है उसके प्रति निखिलके दावेको
केवल जीवित रहनेका ?
यही विस्मय बार-बार
आकर समाता आज प्राणमें,
प्राण-लक्ष्मी धरित्रीके गभीर आह्वानमें
मा खड़ी होती आ
जो मा चिर-पुरातन है नूतनके वेशमें।

'उदयन'
सायाह्न : २१ जनवरी

७

यहाँ-वहाँकी बातें आज उठ रही हैं मनमें,
बर्षाके शेषमें शरतके मेघ जैसे उड़ते हैं पवनमें।
कार्य-बन्धनसे मुक्त मन उड़ता फिरता है शून्यमें ;
कभी-आँकता है रुपहले चित्र, कभी खींचता है सुवर्ण-रेखाएँ।
विचित्र मूर्तियाँ रचता वह दिगन्तके कोनेमें,
रेखाएँ बदलता है बार-बार मानो अनमनेमें।
बाष्पका है शिल्पकार्य मानो आनन्दकी अवहेलना—
कहीं भी दायित्व नहीं, इसीसे उसका खेल अर्थशून्य है।
जागनेका दायित्व है, इसीसे काम किया करता है।
सोनेका दायित्व नहीं, ऊलजलूल स्वप्न गढ़ा करता है।
मनकी प्रकृति ही है स्वप्नकी, दबी रहती वह कार्यके शासनमें,
दौड़कर बैठ नहीं पाता मन स्वराजके आसनपर।

पाते ही छुटकारा वह कल्पनामें कर लेता भीड़,
मानो निज स्वप्नोंसे रचता है उड़ाकू पक्षीका नीड़।
इसीसे मिलता है प्रमाण अपनेमें —
स्वप्नका यह पागलपन ही है विश्वका आदि उपादान।
उसे दमनमें रखता है,
स्थायी कर रखता है सृष्टिकी प्रणाली
कर्तृत्व प्रचण्ड बलशाली।
शिल्पके नैपुण्य इस उद्दामको शृङ्खलित करना
अदृश्यको पकड़ना है।

८

अलस शय्याके पास चल रही जीवनकी मन्थर गति,
रच रही है शिल्प शैवाल-दलमें
मर्यादा नहीं कोई उसकी, फिर भी
उसमें है परिचय कुछ स्वल्पमूल्य जीवनका।

'उदयन'
२३ जनवरी १९४१

९

अतिदूर आकाशमें है सुकुमार पाण्डुर नीलिमा।
अरण्य उसके तले ऊपरको करके हाथ
कर रहा नीरव निवेदन है अपना श्यामल अर्घ्य।
माघकी तरुण धूप धरणीपर बिछा रही है चारों ओर
स्वच्छ आलोकका उत्तरीय।
लिखे रखता हूं इस बातको मैं
उदासीन चित्रकारके चित्र मिटानेके पहले ही।

'उदयन'
२४ जनवरी १९४१

१०

चुपके-चुपके आ रही है घातक रात,
गतबल शरीरका शिथिल अर्गल तोड़कर
कर रही प्रवेश वह अन्तरमें,
हरण कर रही है जीवनका गौरव-रूप।
कालिमाके अक्रमणसे पराजय मान लेता मन।
यह पराभवकी लज्जा, अवसादका अपमान यह
जब हो उठता है पुञ्जीभूत
सहसा दिखाई देती है दिगन्तमें
स्वर्ण-किरणोंकी रेखा-अङ्कित दिनकी पताका;
आकाशके न-जाने किस सुदूर केन्द्रसे
उठती है ध्वनि एक, 'मिथ्या है, मिथ्या है!'
प्रभातके प्रसन्न प्रकाशमें
देती दिखाई है दुःख-विजयी प्रतिमा एक
अपने जीर्ण-देह-दुर्गके शिखरपर।

'उदयन'
प्रभात : २७ जनवरी ४१

११

मुक्त वातायनके पास जनशून्य घरमें
बैठा ही रहता हूं निस्तब्ध प्रहरमें,
बाहर उठता ही रहता है श्यामल छन्दका गान
मानो आ रहा हो धरणीके प्राणोंका आह्वान;
अमृतके उत्स-स्रोतमें
चित्त बहता चला जाता है
दिगन्तके नीलाभ आलोकमें।

किसकी ओर भेजूं मैं अपनी स्तुतिको
व्यग्र मनकी व्याकुल प्रार्थना ?
अमूल्यको मूल्य देने ढूंढ़ता फिरता मन वाणी-रूप,
रहता है सदा चुप,
कहता है, 'मैं हूं आनन्दित' –
यहीं रुक जाता छन्द,
कहता है, 'मैं हूं धन्य।'

१२

इस जीवनमें पाया है सुन्दरका मधुर आशीर्वाद,
मनुष्यके प्रेम-पात्रमें उसीकी सुधाका पाता हूं मधुर आस्वाद।
दुःसह दुःखके दिनोंमें
अक्षत अपराजित आत्माको
लिया है पहचान मैंने।
आसन्न मृत्युकी छायाका जिस दिन किया अनुभव
उस दिन भयके हाथसे नहीं हुआ मेरा दुर्बल पराभव।
महत्तम मनुष्यके स्पर्शसे हुआ नहीं वञ्चित मैं,
उनकी अमृत-वाणी आत्मामें की है संचित मैंने।
जीवन-विधाताका जो दान मिला मुझे इस जीवनमें
उसीकी स्मरण-लिपि छोड़े जाता हूं कृतज्ञ मनसे मैं।

'उदयन'

संध्या : २८ जनवरी ४१

१३

प्रेम आया था एक दिन
तरुण-अवस्थामें
निर्झरके प्रलाप-कल्लोलमें,

अज्ञात शिखरसे
सहसा विस्मयको साथ ले
भ्रूभङ्गित पाषाणके निश्चल निर्देशको
लाँघकर उच्छल परिहाससे,
पवनको कर धैर्यच्युत,
परिचय-धारामें तरङ्गित कर अपरिचितकी
अचिन्त्य रहस्य-भाषाको,
चारों ओर स्थिर है जो-कुछ भी
परिमित नित्य-प्रत्याशित
उसीमें मुक्त कर
धावमान विद्रोहकी धाराको।

आज वही प्रेम स्निग्ध सान्त्वनाकी स्तब्धतामें
नीरव निःशब्द हो पड़ा है प्रच्छन्न गभीरतामें।
चारों ओर निखिलकी विशाल शान्तिमें
मिला है जो सहज मिलनमें,
तपस्विनी रजनीके नक्षत्र-आलोकमें उसका आलोक है,
पूजा-रत अरण्यके पुष्पार्घ्यमें उसकी है माधुरी।

'उदयन'
मध्याह्न : ३० जनवरी ४१

१४

घण्टा बज उठा दूर कहीं।
नगरके अभ्रभेदी आत्म-घोषणाकी
मुखरता मनसे हो गई लुप्त,
आतप्त माघकी धूपमें अकारण देखा चित्र एक
जीवन-यात्राके प्रान्तमें जो अनतिगोचर था।

गूंथ-गूंथ ग्रामोंको खेतोंकी पगडण्डियाँ
चलती चली गई हैं न-जाने कितनी दूर तक
कहीं-कहीं नदी-तटका सहारा ले ।
प्राचीन अश्वत्थ-तले
नदीके घाटपर बैठा है यात्री-दल
पार जानेकी आशा लिये ;
पास ही लग रहा हाटका बजार है ।
गंजके घास-फूस टीन-मिट्टीके झोंपड़ोंमें
गुड़की भरी गागरोंकी लग गई कतार है ;
चाट-चाट जाते हैं घ्राण-लुब्ध गाँवके कुत्ते सब ।
भीड़ कर रही हैं मक्खियाँ ।
सड़कमें ऊपरको किये मुँह पड़ी हैं बैल-गाड़ियाँ
बोझ लादे पटसनका,
गट्ठर खींच एक-एक कह-कहके रामे-राम
आड़तके आँगनमें तौल रहे तुलाराम ।
बँधे-खुले बैल सब चर रहे घास और
पूंछका चँवर ढोर उड़ा रहे मक्खियाँ ।
जहाँ-तहाँ सरसोंके ढेर लगे
कर रहे प्रतीक्षा हैं गोलोंमें जानेकी ।
मछुओंकी नावें आ-आकर भिड़ रहीं घाटपर,
मँडरा रहीं चीलें हैं मछलियोंके ठौरपर ।
महाजनी नावें भी लदी तटपर हैं बँधी-हुई ।
बुन रहे मल्लाह जाल नावोंकी छतपर बैठ घाममें ।
नदी पार कर रहे किसान हैं
भैंसोंकी पीठपर साथ-साथ तैरकर ।
पारके जंगलोंमें दूरसे चमक रहा मन्दिरका शिखर है
प्रभात-सूर्य-तापमें ।

खेत और मैदानके अदृश्य उस पारमें
चलती है रेल-गाड़ी क्षीणसे भी क्षीणतर
ध्वनि-रेखा खींचकर आकाश-वातासमें,
पीछे-पीछे धुआं छोड़ फहराती-हुई जा रही
दूरत्व-विजयकी लम्बी विजय-पताका।

याद उठ आई, कुछ नहीं, गहरी निशीथ रातकी,
गंगाके किनारे बँधी नाव थी।
चांदनीसे चमचमा रहा था नदीका जल,
घनीभूत छाया-मूर्ति निष्कम्प अरण्य-तटपर,
कचित् कहीं दिखाई दे जाती थी दिआकी लौ।
सहसा मैं उठा जाग।
शब्द-शून्य निशीथके आकाशमें उठी एक गीत-ध्वनि तरुण किसी क
दौड़ रही उतारके बहावमें तन्वी नाव तीव्र वेगसे।
क्षणमें अदृश्य हो गई वह ;
दोनों पार स्तब्ध वनमें जागती रही गीत-ध्वनि ;
चन्द्रमाका मुकुट पहने अचंचल निशीथ-प्रतिमा
निर्वाक् हो पड़ी रही पराभूत निद्राकी शय्यापर।

चलते-चलते पथिक-मन देखता है कितने दृश्य
चेतनाके प्रत्यन्त प्रदेशमें,
क्षणभंगुर हैं, फिर भी तो मनमें आज जाग-जाग उठते सब ;
एक नहीं, अनेक ऐसे उपेक्षित विचित्र चित्र
और जीवनकी सर्वशेष विच्छेद-वेदनाका
स्मरण करा रहा है आज दूरका यह घण्टा-रव।

'उदयन'
संध्या : ३१ जनवरी ४१

१५

निर्जन रोगीका घर ।
खुले-हुए द्वारसे
टेढ़ी-तिरछी छाया आ पड़ रही है शय्यापर ।
शीतके मध्याह्न-तापमें तन्द्रातुर वेला है
चल रही, गति उसकी मन्थर है
शैवालसे दुर्बल-स्रोत नदीके समान ही ।
जाग-जाग उठता है अतीतका दीर्घश्वास
रह-रहकर शस्य-शून्य खेतमें ।

आ रही याद आज, हो गये अनेक दिन,
स्रोतस्विनी वेगवती पद्मा ही एक दिन
कार्य-हीन प्रौढ़ प्रभातमें
धूप और छायामें
बहा ले गई थी मेरी उदास विचार-धाराको
अपने शुभ्र फेनमें ।
शून्यके किनारेका कर-करके स्पर्श वहाँ
मछुओंकी नाव चला करती थीं पालोंके वेगमें,
पड़े रहते थे यूथभ्रष्ट शुभ्र मेघ आकाशके कोनमें ।
धूपमें-चमचमाते घट ले-लेकर काँखमें
ग्राम्य वधुएं सब घूंघटके भीतरसे
बतराती जाती थीं,
बातोंसे गुंजरित टेढ़े-मेढ़े रास्तेमें
आम्र-वनकी छायामें
कोयल कहाँ बोल रही क्षण-क्षणमें
निभृत वृक्ष-शाखापर ?

छाया-कुण्ठित ग्रामीण जीवनयात्राका
रहस्य-आवरण
कम्पित कर देता है मेरा मन।
सरोवरके चारों ओर हरे-भरे सरसोंके खेतोंसे
पूर्ण हो जाता है प्रतिदान इस धरणीका
सूर्य-किरणोंके दानका,
सूर्य-मन्दिरकी वेदी-तले बिछा है नैवेद्य-थाल पुष्पका।
एक दिन शान्त दृष्टि फैलाकर निभृत प्रहारमें
भेजी मैंने निःशब्द मूक वन्दना
उस सविताको जिनके ज्योति-रूपमें प्रथम मानवने
मर्त्यके प्राङ्गण-तले देवताका देखा स्वरूप था।
मन-ही-मन सोचा है, प्राचीन युगकी कहीं
वैदिक मन्त्रकी वाणी होती मेरे कण्ठमें
तो मिल जाता मेरा स्तव स्वच्छ सूर्यालोकमें।
भाषा नहीं, भाषा नहीं ;
देखकर दूर दिगन्तकी ओर मैंने
बिछाया है मौन अपना
पाण्डुनील मध्याह्न-आकाशमें।

'उदयन'
मध्याह्न : १ फरवरी ४१

१६

अकेला बैठा मैं विश्वके गवाक्षमें
देख रहा दिगन्तकी नीलिमामें अनन्तकी मौन भाषा।
प्रकाश है ला रहा अपने साथ छाया-जड़ित
सिरीष-वृक्षसे स्निग्ध श्यामल सख्यता।
मनमें बज-बज उठता है—'दूर नहीं, दूर नहीं, नहीं बहुत दूर है।'

पथ-रेखा विलीन हुई अस्तगिरि-शिखरके अन्तरालमें,
स्तब्ध हुआ खड़ा हूं मैं दिगन्त-पाठशालाके द्वारपर,
दूर देखो, चमक रहे क्षण-क्षणमें
शेष-तीर्थ-मन्दिरके कलश हैं।
वहां सिंहद्वारपर बज रही
दिगन्तकी रागिणी,
जिसकी मूर्छनामें मिश्रित है
इस जन्मका जो-कुछ भी सुन्दर है,
स्पर्श जो करती है प्राणोंको
दीर्घ यात्रा-पथमें पूर्णताका इङ्गित दे।
मनमें बज-बज उठता है—
'दूर नहीं, दूर नहीं, नहीं बहुत दूर है।'

१७

विराट सृष्टि-क्षेत्रमें
खेल आतिशबाजीका हो रहा आकाशमें
सूर्य-चन्द्र-ग्रह-तारोंको लेकर
युग-युगान्तरके परिमापमें।
अनादि अदृश्यसे मैं भी चला आया हूं
क्षुद्र अग्नि-कणा ले
किनारे-एक क्षुद्र देश-कालमें।
आते ही प्रस्थानकी गोदमें
म्लान हो आई दीपशिखा,
छायामें पकड़ाई दिया
इस खेलका माया-रूप,
शिथिल हो आये धीरे-धीरे
सुख-दुःख नाटकके साज सब।

देखा, युग-युगमें नटी-नट सैकड़ों
छोड़ गये नाना रङ्गीन वेश अपने
रङ्गशालाके द्वारपर।
देखा और-भी कुछ ध्यानसे—
सैकड़ों निर्वापित नक्षत्रके नेपथ्य-प्राङ्गणमें
नटराज निस्तब्ध एकाकी बैठे ध्यानमें।

'उदयन'
सन्ध्या : ३ फरवरी ४१

१८

वाक्योंका जो छन्द-जाल सीखा है बुनना मैंने
उस जालमें पकड़ाई दिया है आज
बिन-पकड़ा जो-कुछ था चेतनाकी सतर्कतासे बचा-हुआ
अगोचरमें मनके गहनमें।
नाममें बांधना चाहता हूं, किन्तु
मानता नहीं नामका परिचय वह।
मूल्य यदि हो उसका कुछ भी तो
ज्ञात होता रहता है प्रतिदिन और प्रतिक्षण
हाथों-हाथ हस्तान्तर होनेमें।
अकस्मात् परिचयका विस्मय उसका
विस्मृत हो जाय तो
लोकालयमें पाता नहीं स्थान वह,
मनके सैकत-तटपर
विकीर्ण रहता वह कुछ काल तक,
लालित जो-कुछ है गोपनका
प्रकाश्यके अपमानसे
दिनपर दिन विलीन हो जाता वह रेतीमें।

पण्यकी हाटमें अचिह्नित परित्यक्त रिक्त यह जीर्णता
युग-युगमें कुछ-कुछ दे गई है दान अल्पालका
साहित्यके भाषा-महाद्वीपमें
प्राणहीन प्रवाल-सम ।

'उदयन'
सन्ध्या : ४ फरवरी ४१

१६

अलस समय-धाराके सहारे मन
शून्यकी ओर दृष्टि किये चलता ही रहता है ।
उस महाशून्य-पथमें छायाङ्कित नाना चित्र
देते दिखाई हैं ।
काल-कालान्तरमें न-जाने कितने लोग
दल बाँध-बाँध आये और चले गये
सुदीर्घ अतीतमें
जयोद्धत प्रबलसे प्रबलतर गतिमें ।
आया है साम्राज्य-लोभी पठानोंका दल, और
आये हैं मुगल भी ;
विजय-रथके पहियोंने
उड़ाया है धूलि-जाल
उड़ाई है विजय-पताका भी ।
देखता हूं शून्य-पथमें –
आज उसका कोई चिह्न तक है नहीं ।
निर्मल नीलिमामें है केवल रक्षीन प्रकाश प्रभात और संध्याका
युग-युगमें सूर्योदय-सूर्यास्तका ।
उसी शून्य-तले फिर –
आये हैं दल बाँध-बाँध

लौह-निर्मित पथसे
अनल-निश्वासी रथसे
प्रवल अंगरेज,
विकीर्ण कर रहे अपना तेज।
जानता हूं, उनके भी पथसे जायगा अवश्य काल,
जाने-कहां वहा देगा उनका यह देशव्यापी साम्राज्य-जाल!
जानता हूं, पण्यवाही सेना उनकी जायेगी,
ज्योतिष्कलोक-पथमें वह
रेखामात्र चिह्न भी न रख पायेगी।

इस मिट्टीकी पृथ्वीपर दृष्टि डालता हूं तो
देखता हूं, विपुल जनता है चल रही
कलकल-रवसे
नाना दलमें नाना पथसे
युग-युगान्तरसे मानवके नित्य-प्रयोजनसे
जीवन और मरणमें।
चिरकाल ये खेते हैं डाँड़,
थामे रहते हैं पतवार;
बोते हैं बीज खेतोंमें
काटते हैं पके धान।
निरन्तर काम करते हैं
नगर और प्रान्तमें।
राज-छत्र टूट जाते हैं, रणडङ्का न करते शब्द,
जयस्तम्भ मूढ़ सम भूल जाते हैं अपना अर्थ,
रक्ताक्त अस्त्र ले हाथमें
लाल-लाल क्रुद्ध आँखें
जा छिपती हैं शिशु-पाठ्य कहानियोंमें।

प्रचण्ड गर्जन और गुञ्जन-स्वर दिन-रातोंमें गुंथ-गुंथकर
मुखरित किये रहते हैं दिन-यात्राको।
सुख-दुःख दिवस-रजनी मिलकर सब
मन्द्रित कर देते हैं जीवनकी महामन्त्र-ध्वनि।
सैकड़ों साम्राज्यके भग्न-अवशेषपर
काम करता है मानव इस पृथ्वीपर।

'उदयन'
प्रभात : १३ फरवरी ४१

२०

यह द्युलोक मधुमय है, मधुमय है पृथ्वीकी धूलि यह—
अपने अन्तरमें ग्रहण किया है मैंने
इसी महामन्त्रको,
चरितार्थ जीवनकी वाणी यह।
दिनपर दिन पाया था जो-कुछ भी उपहार सत्यका
मधु-रसमें क्षय नहीं कभी उसका।
तभी तो यह मन्त्र-वाणी ध्वनित हो रही है मृत्युके शेष प्रान्तमें
समस्त क्षतियोंको मिथ्या कर अन्तरमें आनन्द विराजता।
शेष-स्पर्श ले जाऊंगा जब मैं इस धरणीका
कह जाऊंगा, 'तुम्हारी धूलिका
तिलक लगाया मैंने भालपर,
देखी है ज्योति नित्यकी, दुर्योगकी मायाकी ओटमें।
सत्यका आनन्द-रूप
उसीने तो धारण की निज मूर्ति इस धूलिमें—
उस धूलिको हो करता प्रणाम मैं।

'उदयन'
प्रभात : १४ फरवरी ४१

२१

खुला था मनका द्वार, असतर्कतामें अकस्मात्
लगा था न-जाने क्यों कहींसे दुःखका आघात वहां ;
उस लज्जासे खुल गया मर्म-तले प्रच्छन्न बल
था जो जीवनका निहित सम्बल।
ऊर्ध्वसे आई जयध्वनि
दिगन्त-पथसे मनमें आ उतरी वह सुलक्षणी,
आनन्दका विच्छुरित प्रकाश
उसी क्षण मेघका अँधेरा फाड़ फैल गया हृदयमें।
क्षुद्र कोटरका असम्मान दूर हुआ,
निखिलके आसनपर दीख पड़ा अपना स्थान,
आनन्दने आनन्दमय चित्त मेरा जीत लिया,
उत्सवका पथ
पहचान गया मुक्ति-क्षेत्रमें सगौरव अपना स्थान।
दुःख-ताड़ित ग्लानि थी जितनी भी
छाया थी, विलीन हुई अकस्मात्।

'उदयन'
मध्याह्न : १४ फरवरी ४१

२२

धीरे-धीरे संध्या है आ रही,
एक-एक करके सब ग्रन्थियां हैं खुल रहीं
प्रहरोंके कर्म-जालसे।
दिनने दी जलाञ्जलि, खोलकर पश्चिमका सिंहद्वार
स्वर्णका ऐश्वर्य उसका
समा रहा आलोक-अन्धकारके सागर-संगममें।

दूर प्रभातको नतमस्तक हो कर रही नीरव प्रणाम है।
आंखें उसकी मुंदी आतीं, आ गया समय अब
गंभीर ध्यान-मग्न हो इस बाह्य परिचयको तिलाञ्जलि देनेका।
नक्षत्रोंका शान्ति-क्षेत्र असीम गगन है
जहां ढकी रहती है सत्ता दिनश्रीकी,
अपनी उपलब्धि करने वहीं सत्य जाता है
रात्रि-पारावारमें नाव दौड़ाता है।

'उदयन'
मध्याह्न : १६ फरवरी ४१

२३

आलोकके हृदयमें जिस आनन्दका स्पर्श पाता हूं,
जानता हूं, उसके साथ मेरी आत्माका भेद नहीं।
एक आदि ज्योति-उत्ससे
चैतन्यके पुण्य-स्रोतसे
मेरा हुआ है अभिषेक,
ललाटपर उसीका है जय-लेख,
जताया उसीने मुझे, मैं अमृतका अधिकारी हूं;
'परम-मैं' के साथ युक्त मैं हो सकता हूं
इस विचित्र संसारमें
प्रवेश पा सकता हूं आनन्दके मार्गमें।

२४

इस 'मैं' का आवरण सहजमें स्खलित हो जाय मेरा;
चैतन्यकी शुभ्र ज्योति
भेदकर कुहेलिका
सत्यका अमृत-रूप कर दे प्रकाशमान।

सर्व-मानवमें
एक चिर-मानवकी आनन्द-किरण
मेरे चित्तमें विकीरित हो।
संसारकी क्षुब्धता स्तब्ध जहाँ
उसी ऊर्ध्वलोकमें नित्यका जो शान्ति-रूप
उसे देख जाऊं मैं, यही है कामना ;
जीवनका जटिल जो-कुछ भी है
व्यर्थ और निरर्थक,
मिथ्याका वाहन है समाजके कृत्रिम मूल्यमें,
उसपर मर मिटते हैं कंगाल अशान्त जन,
उसे दूर हटाकर
इस जन्मका सत्य अर्थ जानकर जाऊं मैं
उसकी सीमा पार करनेके पहले ही।

'उदयन'
सन्ध्या : ११ माघ १९९७

२५

पलाशकी आनन्द-मूर्ति जीवनके फागुनकी
आज इस सम्मान-हीनकी
दरिद्र-वेलामें दिखाई दी
जहाँ मैं साथी-हीन अकेला हूं
उत्सव-प्राङ्गणके वाहर
शस्यहीन मरुमय तटपर।
जहाँ इस धरणीके प्रफुल्ल प्राण-कुञ्जसे
आनादृत दिन मेरे
बहते ही जा रहे छिन्न-भ्रन्त हो
वसन्तके शेषमें।

फिर भी तो कृपणता नहीं तुम्हारे दानमें,
यौवनका पूर्ण मूल्य दिया मेरे दीप्तिहीन प्राणमें,
अदृष्टकी अवज्ञाको नहीं माना —
मिटा दिया उसके अवसादको ;
जता दिया मुझे यह –
सुन्दरकी अभ्यर्थना पाता मैं प्रतिक्षण,
पल-पलमें पाता हूं नवीनका ही निमन्त्रण ।

'उदयन'
१३ फरवरी १९४१

२६

रोज ही सवेरे आ प्रभुभक्त कुत्ता यह
स्तब्ध हो बैठा ही रहता है
आसनके पास ही
जब तक न उसका संग स्वीकार करता मैं
अपने कर-स्पर्शसे ।
बस इतनी-सी स्वीकृति पा
उसके सर्वाङ्गमें तरङ्गित हो उठता है आनन्दका प्रवाह नित्य ।
वाक्यहीन प्राणी-लोकमें
यही एक जीव केवल
जिसने भलाई-बुराई भूल
देखा है मनुष्यको सुसम्पूर्ण रूपमें ;
देखा है उसे –
जिसे आनन्दसे दिये जा सकते हैं प्राण तक,
जिसे दिया जा सकता है अहेतुक पूर्ण प्रेम,
असीम चैतन्य-लोकमें
मार्ग दिखा देती है जिसकी परम चेतना ।

देखता हूं, मूक-हृदयका
प्राणान्त आत्म-निवेदन जब
विनम्र और दीनतामय,
सोचता हूं —
आविष्कार किया है कैसा मूल्य इसने
अपने सहज-बोधसे मानव-स्वरूपमें !
भाषा-हीन दृष्टिकी करुण है व्याकुलता,
स्वयं समझती है, पर समझा नहीं सकती वह,
मुझे समझा देती है
इस सृष्टिमें मानवका सत्य परिचय वह।

'उदयन'
पौष १९९७

२७

दिनपर दिन बीत रहे, स्तब्ध बैठा रहता मैं ;
मनमें सोचा करता हूं —
जीवनका दान कितना और बाकी है
चुकाना संचय अपचयका ?
मेरे अयत्नसे कितना हो गया क्षय !
पाया क्या प्राप्य अपना मैंने ?
दिया क्या जो देना था ?
क्या बचा है शेष पाथेय मेरा ?
आये थे जो पास मेरे
चले गये थे जो दूर मुझसे
उनका स्पर्श कहां रह गया मेरे किस सुरमें ?
अन्यमनस्कतासे किस-किसको पहचाना नहीं मैंने ?
विदाईकी पदध्वनि प्राणोंमें वृथा ही बज रही आज।

इतना भी तो ज्ञात नहीं –
कौन कब करके क्षमा, कुछ कहे बिना
चला गया है।
भूल की हो मैंने यदि उसके प्रति,
क्षोभ रखेगा क्या तब भी वह
जब न रहूंगा मैं ?
कितने सूत्र छिन्न हुए जीवनके आस्तरणमय,
उन्हें जोड़नेका अब न रहा कुछ भी समय।
जीवनके शेष-प्रान्तमें प्रेम है असीम जो
असम्मान मेरा कोई भी
क्षत-चिह्न अंकित करे उसपर तो
मेरी मृत्युके हाथ ला दें आरोग्य उसे,
सोचा करता हूं बार-बार यही एक बात मैं।

'उदयन'
फागुन १९९७

२८

क्षण-क्षणमें अनुभव मैं कर रहा समय शायद आ गया,
विदाईके दिनोंपर डालो अब आवरण
अप्रगल्भ सूर्यास्त-आभाका ;
जानेका समय मेरा
शान्त हो, स्तब्ध हो, स्मरण-सभाका समारोह
कहीं रचे नहीं शोकका कोई सम्मोह।
वनश्रेणी दे प्रस्थानके द्वारपर
धरणीका शान्ति-मन्त्र अपने मौन पल्लव-वन्दनवारमें।
उतर आये धीरेसे रात्रिका शेष आशीर्वाद,
सप्तर्षिकी ज्योतिका प्रसाद।

२६

दीदी-रानी –
अनिवट सान्त्वनाकी खान है।
कोई क्लान्ति कोई क्लेश
मुखपर छोड़ न सका चिह्न-लेश।
कोई भय कोई घृणा कोई ग्लानि किसी काममें –
छाया न डाल सकी सेवाके माधुर्यमें।
अखण्ड प्रसन्नता सदा घेरे ही रहती है उसे
रचा करती है मानो शान्तिका मण्डल ;
फुरतीले हाथोंसे करती ही रहती है विस्तार स्वस्तिका ;
आश्वासकी वाणी मधुर
अवसादको कर देती दूर।
यह स्नेह-माधुर्य-धारा
अक्षम रोगीको घेर
रचा करती है अपना किनारा ;
अविराम स्पर्श चिन्ताका
विचित्र फसलसे मानो
कर रहा उर्वर है उसके दिन-रातोंको।
करना है माधुर्य सार्थक, इसीसे
इतने निर्बलकी थी आवश्यकता।
अवाक् होकर देखता हूं मैं उसे,
रोगीकी देहमें उसने क्या –
दर्शन किये हैं अनन्त-शिशुके आज ?

'उदयन'
माघ १९९७

३०

फसल कट जानेपर खेत हो जाते साफ ;
उगती है कांस घास,
अनादरका शाक तुच्छ दामका ।
भर-भर आँचल आतीं हैं चुनने उसे
गरीब-घरकी लड़कियाँ,
खुशी-खुशी जातीं घर
जो मिलता उसे संग्रह कर ।
आज मेरी खेती चलती नहीं,
परित्यक्त पड़े खेतमें अलसाई मन्थर-गतिसे
आलसके दिन योंही चल रहे हैं ।
भूमिमें बाकी कुछ रस है,
मिट्टी नहीं कड़ी हुई ;
देती नहीं कोई फसल, किन्तु हरी रखती है अपनेको ।
श्रावण मेरा चला गया,
न बादल है न वर्षा धारापातकी ;
कुआर-कार्तिक भी बीत गया, शोभा नहीं शरतकी ।
चैत मेरा सूखा पड़ा, प्रखर सूर्य-तापसे
सूख गई नदियाँ सब,
वन-फलके झाड़ोंने यदि बिछाई हो छाया कहीं
समझूंगा यही मैं, मेरे शेष मासमें
धोखा नहीं दिया मेरे भाग्यने,
श्यामल धराके साथ
बन्धन मेरा बना रहा ।

'उदयन'
प्रभात : १० जनवरी ४१

20-6

३१

विधु-दादा हैं
दीर्घ-वपु, दृढ़वाहु,
दुःसह कर्तव्यमें उनके नहीं कोई वाधा,
वुद्धिसे उज्ज्वल है चित्त उनका,
तत्परता सर्व देहमें –
करती रहती सञ्चरण।
तन्द्राकी ओटमें –
रोग-क्लिष्ट क्लान्त रात्रिकालमें
मूर्तिमान शक्तिका
जाग्रत रूप जो है प्राणमें
वलिष्ठ आश्वास लाता वह वहनकर,
निर्निमेष नक्षत्रमें
जाग्रत शक्ति ज्यों निःशब्द विराजती
अमोघ आश्वाससे
सुप्त रात्रिमें विश्वके आकाशमें।
जब पूछता है मुझसे कोई,
'दुःख है क्या तुम्हारे कहीं,
हो रहा है कष्ट कोई ?'–
लगता है ऐसा मुझे,
इसके नहीं मानी कोई।
दुःख तो है मिथ्या भ्रम,
अपने पौरुषसे अपने ही आप मैं
अवश्य ही करूंगा उसे अतिक्रम।
सेवामें निहित शक्ति दुर्वल-देहको करती है दान
वलका सम्मान।

३२

चिरकालसे होती आई है शुमार मेरी
बेकारोंके दलमें।
वाहियात लिखना है,
पढ़ना है फालतू,
दिन कटते हैं व्यर्थ मिथ्या छलमें।
उस गुणीको
आनन्दमें काट देता मेरा दीर्घ समय जो,
'आओ आओ' कहके बड़े आदरसे
बिठाता मैं बैठकमें;
डरता हूं 'कामके आदमी' से,
कलाईमें घड़ी बांध
कड़ाईसे बांध लेता समयको;
फजूल-खर्चीके लिए
बाकी कुछ रखता नहीं हाथमें,
मुझ जैसे आलसी लज्जा ही पाते हैं उनके साक्षात्‌में।
समय नष्ट करनेमें
हम बड़े उस्ताद हैं,
कामका नुकसान करने बिछाते जो जाल हैं,
उनकी करतूतपर हम देते सदा दाद हैं।
मेरा शरीर तो काममें-व्यस्तोंको
दूरसे ही दण्डवत करके भगाता है
शक्ति नहीं अपनेमें, पराई देहपर महसूल लगाता है।
सरोज-भइयाको देखता हूं,—
जो भी कहो, जो भी करो,
सबमें वह राजी रहता है;

काम-काज कुछ भी नहीं,
समयके भण्डारमें लगा नहीं ताला कहीं,
मुझ जैसे अक्षमकी क्षण-क्षणकी मांगोंको
तुरत पूरी करना ही कर्तव्य अपना समझता है ;
उसके पास इतना है उदार अवसर,
अकृपण हो विना-थके दे सकता है निरन्तर।
आधी रातको स्तिमित आलोकमें
सहसा जब देखता हूं मूर्ति उसकी तो
सोचता हूं मन-ही-मन,
बिठाकर आश्वासकी नावपर
किसने दूत भेजा यह,
दुर्योगका दुःस्वप्न जिसने दिया तोड़ ?
दाय-हीन मनुष्यका यह अचिन्त्य आविर्भाव है
दया-हीन अदृष्टकी वन्दिशालामें वहुमूल्य यह लाभ है।

'उदयन'
प्रभात : ९ जनवरी ४१

३२

तुकान्तके तारे-सितारे गूंथ छन्दकी किनारीपर
वेकार अलस वेलाको
भरता ही रहता हूं सिलाईके कामसे।
अर्थपूर्ण नहीं कुछ,
केवल झिलमिलाते रहते हैं
आंखोंके सामने।
तुकवन्दीकी सँधोंमें मेल है,
अँधेरेमें पेड़ोंपर
जुगनुओंका खेल है।

उनमें है आलोककी चमक भी,
किन्तु नहीं दीप-शिखा,
रात मानो अँधेरेमें खेल रही
आलोकके टुकड़े गूंथ-गूंथकर ।
जंगली पेड़-पौधोंमें
लगते हैं छोटे-बड़े फूल,
फिर भी नहीं उपवन वह ।
याद रहे, काम आये –
सृष्टिमें हैं ऐसी चीज सैकड़ों ;
न रहे याद, और न आवे काममें –
उनकी भी काफी भरमार है ।
झरनाका जल करता चलता है
नीचेकी भूमिको उर्वरा ;
फूला नहीं समाता फेन,
क्षणमें विला जाता है ।
कामके साथ-साथ खेल गुंथा-हुआ है
जो हलका करता भारको,
देखकर खुशी होती सृष्टिके विधाताको ।

'उदयन'
प्रभात : २३ जनवरी १९४१

शेष जीवनकी रचनाओंके विषयमें

सन् १९४० के सितम्बर मासमें रवीन्द्रनाथ कालिंगपंग गये, और वहाँ २६ सितम्बरको अकस्मात् वहुत ज्यादा अस्वस्थ हो गये। २९ सितम्बरको अचेतन अवस्थामें उन्हें कलकत्ता लाया गया। लगभग डेढ़ महीने कलकत्ता रहनेके वाद कुछ स्वस्थ होनेपर वे शान्ति-निकेतन चले गये। 'रोगशय्यापर' और 'आरोग्य' की अधिकांश कविताएँ इसी समयकी रचना हैं। कविकी पुत्रवधू श्रीमती प्रतिमा ठाकुरने अपने 'निर्वाण' ग्रन्थमें लिखा है : "पिताजीकी चेतना धुँधली-धुँधली रहती थी,– बीच-बीचमें सचेतन होते और फिर तन्द्राच्छन्न हो जाते। इस समयकी उनकी अधिकांश रचनाएँ मौखिक होती थीं; और जो उनके आसपास रहते वे उन्हें तत्काल लिख लिया करते थे। 'आरोग्य' की कई कविताओंमें अपने निष्ठावान अनुरागी सेवक-सेविकाओंके प्रति उन्होंने अपना उद्गार प्रकट किया है।"

'रोगशय्या' की तीसरी कविता कालिंगपंगसे लौटनेके वाद प्रथम चेतना-प्राप्तिके समय रची गई थी। 'शेष वाणी' की कई कविताएँ उन्होंने स्वयं अपने हाथसे लिखी थीं। 'शेष वाणी' की आठवीं कविता 'विवाहके पाँचवें वर्षमें' श्रीमती नन्दिता देवीके व्याहकी पाँचवीं वर्षगाँठमें रची गई थी। चौदहवीं कविता 'दुखकी अँधियारी रात' तक अपनी मौखिक रचनाओंका उन्होंने स्वयं संशोधन कर दिया था; किन्तु शेष पन्द्रहवीं कविता 'अपनी सृष्टिका पथ कर रखा है आकीर्ण तुमने' के संशोधन करनेका उन्हें अवसर नहीं मिला। चौथी कविता 'कड़ी धूपकी लपटें हैं' और पाँचवीं 'फिरसे और-एक वार' इन दोनों कविताओंके सम्बन्धमें 'निर्वाण' में लिखा है: "इन दिनों वे जिस चौकीपर बैठते थे उसका थोड़ा-सा इतिहास है। जब वे दक्षिण-अमेरिकामें भाषण देने गये थे (१९२४ ई०) उस समय वहाँकी प्रसिद्ध लेखिका मेडम विक्टोरिया ओकम्पने, जो कविकी अत्यन्त अनुरक्त भक्त थीं, भारत लौटते समय यह चौकी कविको भेंट की थी। बहुत दिनोंसे वह बेकार पड़ी थी। किन्तु इस अन्तिम रुग्न-अवस्थामें फिर उन्होंने उस चौकीपर बैठना शुरू कर दिया था। प्रायः दिन-भर वे निद्रा या विश्रामके वाद उसी आसनपर बैठे रहते थे।"

जीवनके जन्मदिन

'जन्मदिन' के विषयमें

'जीवनके जन्मदिन' की पहली दूसरी और तीसरी कविताके सम्बन्धमें श्रीमती मैत्रेयी देवीने अपने 'मंगपूमें रवीन्द्रनाथ' ग्रन्थमें लिखा है : उस दिन रवीन्द्रनाथ सवेरे नहा-धोकर ऊपरसे नीचे तक काले रंगकी पोशाक पहने बाहर आकर बैठ गये। काष्ठकी बुद्ध मूर्तिके सामने बैठकर एक बौद्ध वृद्धने स्तोत्र पढ़ा। और कविने 'ईशोपनिषद्'से बहुत-सा पढ़कर सुनाया। फिर, सायाह्नमें दलके दल पहाड़ी लोग आने लगे,– शहनाई बजाने लगे, कविपर पुष्प-वर्षा करने लगे। उपर्युक्त तीनों कविताएँ उसी दिनकी रचना हैं।

चौथी कवितामें जो 'प्रिय-मरण-विच्छेद' का उल्लेख है, वह कविके परम-स्नेहभाजन भ्रातुष्पुत्र सुरेन्द्रनाथके स्वर्गवासका संवाद है। चौदहवीं कविता कालिंगपंगसे कलकत्ता भेजते-हुए कविने साथके पत्रमें लिखा था, 'कर्तव्यके संसारकी ओर पीठ किये बैठा हूं। रक्तमें ज्वार आनेके लक्षण दिखाई दे रहे हैं। शारदाने पदार्पण किया है पर्वत-शिखरपर, चरणोंके पास मेघपुञ्ज केशर-फुलाये स्तब्ध खड़ा है। मस्तकके किरीटपर सुनहली सूर्य-किरणें विच्छुरित हो रही हैं। आरामकुरसीपर बैठा हूं सारे दिन, मनके दिक्प्रान्तमें क्षण-क्षणमें सुनाई दे रही है वीणापाणिकी वीणाकी गुञ्जनध्वनि। उसीका कुछ नमूना भेज रहा हूं।'

इसके बाद २६ सितम्बर १९४० को अकस्मात् घातक रोगने ऐसा पीड़ित कर दिया कि महीने-भर तक प्रायः अचैतन्य-अवस्था बनी रही। फिर क्रमशः कुछ-कुछ स्वस्थ होनेपर ३० अक्टोबरको रोगशय्यापर कविता रचना शुरू कर दिया।

यहाँ इतना उल्लेखयोग्य है कि कविगुरु रवीन्द्रनाथके जीवन-कालमें प्रकाशित यही अन्तिम ग्रन्थ है।

जीवनके जन्मदिन

१

जीवनके अशीतितम वर्षमें
किया आज प्रवेश जब
विस्मय यह जाग उठा मनमें –
लक्ष-कोटि नक्षत्रोंके
अग्नि-निर्झरकी निःशब्द ज्योति-धारा
दौड़ रही निरुद्देश अचिन्त्य वेगसे
प्लावित कर शून्यताको
दिशा-विदिशामें,
तमोघन अन्तहीन आकाशके वक्षस्थलमें
अकस्मात् मैंने किया अभ्युत्थान
असीम सृष्टिके यज्ञमें क्षणिक स्फुलिंग-समान
धारावाही शताब्दीके इतिहासमें ।
आया मैं उस पृथ्वीपर जहाँ कल्पों तक
प्राण-पङ्कने समुद्र-गर्भसे उठकर
जड़के विराट् अङ्कमें
उद्घाटित किया है अपना निगूढ़ परिचय
शाखायित कर रूप-रूपान्तरमें आश्चर्यमय ।
असम्पूर्ण अस्तित्वकी मोहाविष्ट छायाने
आच्छन्न किया था पशुलोकको दीर्घ काल तक ;
किसकी एकाग्र प्रतीक्षामें
असंख्य दिन-रात्रिके अवसानपर
आया मन्थर गमनमें
मानव प्राणकी रङ्गभूमिपर ?

नूतन-नूतन दीप जल उठते हैं एक-एककर,
नूतन-नूतन अर्थ पा रही वाणी है ;
अपूर्व आलोकमें
मनुष्य देखता है अपना अपूर्व भविष्य-रूप,
पृथ्वीके रङ्गमञ्चपर
धीरे-धीरे चल रहा है प्रकाश-नाट्य
अङ्क-अङ्कमें चैतन्यका —
मैं भी हूं उस नाटकका पात्र एक
पहने साज नाटकीय ।
मेरा भी आह्वान था यवनिका हटानेके काममें,
परम विस्मय है मेरे लिए ।
सावित्री धरित्री यह, आत्माका मर्त्य-निकेतन,
भूमि पर्वत समुद्र
कैसा गूढ़ संकल्प ले करते हैं सूर्य-प्रदक्षिण —
इसी रहस्य-सूत्रमें गुंथा आया था
मैं भी अस्सी वर्ष पहले,
चला जाऊंगा कुछ वर्ष बाद ।

२

कल सबेरे मेरे जन्मदिनमें
इस शैल-अतिथिवासमें
बुद्धके नेपाली भक्त आये थे मेरा संवाद सुन ।
भूमिपर बिछाकर आसन
बुद्धका वन्दना-मन्त्र सुनाया सबने मेरे कल्याणमें —
ग्रहण कर ली मैंने वह पुण्य-वाणी ।
इस धरापर जन्म लेकर जिस महामानवने
समस्त मानवोंका जन्म सार्थक किया था एक दिन,

मनुष्यके जन्म-क्षणसे ही
नारायणी धरणी
प्रतीक्षा करती आई थी युगोंसे,
जिनमें प्रत्यक्ष हुआ था धरापर सृष्टिका अभिप्राय,
शुभक्षणमें पुण्यमन्त्रसे
उनका स्मरण कर जाना यह मैंने —
प्रवेश कर अस्सी वर्ष पहले मानव-लोकमें
उस महापुरुषका मैं भी हुआ पुण्यभागी।

३

अपराह्नमें आये थे जन्म-वासरके आमन्त्रणमें
पहाड़ी लोग जितने,
एक-एक करके सभीने दी मुझे पुष्प-मञ्जरियाँ
साथ नमस्कारके।
धरणीने पाया था न-जाने किस क्षणमें
प्रस्तर-आसनपर बैठकर
करके वह्निमय तपस्या युगों तक
यह वर,
पुष्पका दान यह,
मनुष्यको जन्मदिनमें उपहार देनेकी आशासे।
वही वर, मनुष्यको सुन्दरका नमस्कार
आज आया मेरे हाथमें
मेरे जन्मका यह सार्थक स्मरण है।
नक्षत्र-खचित महाकाशमें
कहीं भी ज्योति-सम्पदमें
दिया है दिखाई क्या
ऐसा दुर्लभ आश्चर्यमय सम्मान कभी?

४

आज जन्मवासरका विदीर्ण कर वक्षस्थल
प्रिय-मरण-विच्छेदका आया है दुःसंवाद ;
अपनी ही आगमें शोकने दग्ध किया अपनेको,
उठा उद्दीप्त हो।
सायाह्न-वेलाके भालपर अस्त-सूर्य
रक्तोज्ज्वल महिमाका करता जैसे तिलक है,
स्वर्णमयी करता है जैसे वह
आसन्न रात्रिकी मुखश्रीको,
वैसे ही जलती-हुई शिखाने
'प्रिय-मृत्यु'का तिलक कर दिया मेरे भालपर
जीवनके पश्चिम-सीमान्तमें।

आलोकमें दिखाई दिया उसका अखण्ड जीवन
जिसमें जन्म-मृत्यु गुँथे एकसूत्रमें;
उस महिमाने उद्धार किया उस उज्ज्वल अमरताका
कृपण भाग्यके दैन्यने अब तक जिसे ढक रखा था।

संपू : दार्जिलिंग
वैशाख १९९७

५

रक्ताक्त है दन्त-पंक्ति हिंस्रक संग्रामकी
सकड़ों नगर और ग्रामोंकी
आँतोंको छिन्न-छिन्न कर देता है ;
लपक-लपक दौड़ती है विभीषिका
मूर्च्छातुर दिग-दिगन्तमें।

उतर आती है बाढ़ भीषण यमलोकसे
राज्य-साम्राज्यके बांध सब
विलुप्त हो जाते हैं सर्वनाशी स्रोतमें।
जिस लोभ-रिपुको
ले गया युग-युगमें दूर-दूर बहुत दूर
सभ्य शिकारियोंका दल
पालतू श्वापदके समान,
देश-विदेशका मांस किया है क्षत-विक्षत,
लोलजिह्वा उन्हीं कुक्कुरोंके दलने
तोड़ी है शृङ्खला मदान्ध हो,
भूल गये हैं वे मानवताको।
आदिम बर्बरता निकालकर अपने नाखून पैने
पुरातन ऐतिह्यके पन्ने फाड़ देती है,
उँड़ेल देती है उनके अक्षरोंमें
पङ्क-लिप्त चित्तका विकार-विष।
असन्तुष्ट विधाताके
दूत हैं शायद ये,
हजारों वर्षोंके पापकी पूंजी
बिखेर देते हैं एक सीमासे अपर सीमा तक,
राष्ट्र-मदमत्तोंके मद्य-भाण्ड चूर्ण कर देते हैं
दुर्गन्धयुक्त मलिनताके कुण्डमें।
मानवने अपनी सत्ता व्यर्थ की है बार-बार दल बांधकर,
विधाताके संकल्पका नित्य ही किया है विपर्यय
इतिहासमय।
उसी पापसे
आत्महत्याके अभिशापसे
अपना ही कर रहे नाश हैं।

हो गया निर्दय
अपना भीषण शत्रु आपपर,
धूलिसात् करता है
भूरिभोजी विलासीकी
भाण्डार-प्रचीरको ।

श्मशान-विहार-विलासिनी छिन्नमस्ता,
क्षणमें मनुष्यका सुख-स्वप्न जीत
वक्ष विदारकर दिखाई दी आत्म-विस्मृत हो,
शत-स्रोतोंमें अपनी रक्तधारा
आप कर रही पान ।
इस कुत्सित लीलाका होगा अवसान जब,
वीभत्स ताण्डवमें
इस पाप-युगका होगा अन्त जब,
मानव आयेगा तपस्वीके वेशमें,
चिता-भस्म-शय्यापर जमाकर आसन
बैठेगा नव-सृष्टिके ध्यानमें
निरासक्त मनसे ।
आज उस सृष्टिके आह्वानको ही
घोषित कर रही हैं बन्दूक-तोप-कमान सब ।

कालिंगपंग
२२ मई १९४०

६

दमामा बज रहा है, सुनो, आज
बदलीके दिन आ गये
आँधी-तूफानके युगमें ।

होगा आरम्भ कोई नूतन अध्याय,
नहीं तो क्यों इतना अपव्यय –
उतरा आता है निष्ठुर अन्याय ?
अन्यायको खींच लाते हैं अन्यायके भूत ही,
भविष्यके दूत ही।
कृपणताकी बाढ़का प्रबल स्रोत
विलुप्त कर देता है मिट्टीके निस्व निष्फल रूपको।
बहा ले जाता है जमे-हुए मृत बालूके स्तरको
भरता है उससे वह विलुप्तिके गह्वरको ;
सेंकनकी मिट्टीको देता अवकाश है
मरुभूमिको मार-मार उगाता वही घास है।
दूबके खेतकी पुरानी पुनरुक्तियाँ
अर्थहीन हो जाती हैं मूक-सी।
भीतर जो मृत है, बाहर वह फिर भी तो मरता नहीं
जो अन्न घरमें किया संचित है –
अपव्ययका तूफ़ान उसे घेरे दौड़ा आता है,
भण्डारका द्वार तोड़ छप्पर उड़ा ले जाता है।
अपघातका धक्का आ पड़ता उनके कन्धेपर,
जगा देता है उनको मज्जामें घुसकर यह।
सहसा अपमृत्युका संकेत आयेगा
नई फसल बोनेको लायेगा बीज नये खेतमें।
शेष परीक्षा करायेगा दुर्दैव –
जीर्ण युगके सञ्चयमें क्या रहेगा, क्या जायेगा।
पालिश-शुदा जीर्णताको पहचानना है आज ही,
दमामा बज उठा है, अब करो अपना काज ही।

२१ मई १९४०

७

नाना दुःखोंमें चित्तके विक्षेपमें
जिनके जीवनकी नींव काँप-काँप उठती है बार-बार,
जो हैं अन्यमना, सुनो,
मानो मेरा कहना –
अपनेको भूलना न कभी भी।
मृत्युञ्जय हैं जिनके प्राण,
समस्त तुच्छताके ऊपर जो दीप जला रखते हैं अनिर्वाण,
उनमें हो तुम्हारा नित्य परिचय,
रखना ध्यान।
उन्हें करोगे यदि खर्व तो
खर्वताके अपमानसे बन्दी बने रहोगे।
उनके सम्मानका करना मान तुम
चिरस्मणीय हैं विश्वमें जो।

८

उमर मेरी होगी तब बारह या तेरहकी।
पुरानी नील-कोठीकी ऊपरकी मंजिलमें
कमरा था, जिसमें मैं रहता था।
सामने थी खुली छत –
दिन और रात दोनों मिल
उजाले-अँधेरेमें जगा दिया करते थे
साथी-हीन बालककी भावना और चिन्ताको
असम्बद्ध-रूपमें,
अर्थशून्य प्राण वे पाती थीं,
जैसे नीचे सामने

वह रहे प्रकाश पा पेड़-झाड़ बेंतके
किनारे तालाबके ।
झाऊकी पंक्ति खड़ी कांप रही झरझरझर ।
नीलकी खेतीके जमानेकी पुरानी निशानी है ।
वृद्ध इन वृक्षोंके समान ही आदिम पुरातन
वयसके अतीत उस बालकका मन
निखिल-आत्माका पाता था कम्पन,
आकाशकी अनिमेष दृष्टिकी बुलाहटपर
देता था उत्तर वह,
ताके ही रहता था दूर बहुत दूरीपर ।

जाग्रत नहीं थी बुद्धि मेरी,
बुद्धिके बाहर जो कुछ था
उसे बाधा नहीं मिली कहीं किसी द्वारपर ।
स्वप्न-जनताके विश्वमें था द्रष्टा या स्रष्टाके रूपमें,
पण्य-हीन दिनोंको बहा रहा था चुपचाप मैं
कदलीपत्रकी नावके निरर्थक खेलमें ।
सवार हो खट्टू पर पहुंचता मैदान और
दौड़ाता रहता था देर तक घोड़ेको,
मनमें समझकर सेनापति अपनेको,—
पढ़नेकी किताबमें देखा था चित्र एक
मनमें थी वही बात, और-कुछ नहीं था ।
युद्धहीन रणक्षेत्रके इतिहास-हीन मैदानमें
ऐसे ही कटता था मेरा सबेरा तब ।
जवा और गेंदाके फूलोंका निचोड़ रस
भित्तिपर उस रंगसे न-जाने क्या लिखता था,
उस लिखाईका पता –

अपने ही मर्ममें हुआ है रंगीन तव
बाहरकी वाहवाही विना ही।
शामको बुलाकर विश्वनाथ शिकारीको
सुनता था किस्से उससे विचित्र शेर-शिकारके
निस्तब्ध छतपर वे लगते थे अद्भुत संवाद-से।
मन-ही-मन में भी बन्दूकका दवाना था घोड़ा जब
थरथरथर काँप उठती छाती तव।
चारों ओर शाखायित सुनिविड़ प्रयोजन थे
उनमें वालक मैं ऑरकिड-वृक्ष सम
डोरेदार खयालोंके अद्भुत विकाशमें
झूमता और झूलता ही रहता था कल्पना-हिंडोलेमें।
मानो मैं रचयिताके हाथमें
पोथीके प्रथम कोरे पातमें
अलङ्करण अङ्कनमें कहीं-कहीं अस्पष्ट कोई लेख था,
वाकी सब रेखाओंका टेढ़ा-सीधा भेख था।
आज जब शुरू हुआ पुराना हिसाव लेन-देनका,
चारों ओरसे क्षमा-हीन भाग्य आ पहुंचा मुँह फाड़कर,
विधाताके लड़कपनके
खेलघर जितने थे सबको दिया तोड़फोड़।
आज याद आते हैं दिन वे, रातें वे,
प्रशस्त वह छत भी,
उस प्रकाश-अन्धकारमें
कर्म-समुद्रके वीच निष्कर्म-द्वीपके पारपर
वालकका मन मानो लगता था मध्याह्नमें घुग्घूकी पुकार-सा।
संसारमें कहाँ क्या हो रहा, क्यों हो रहा,
भाग्यके चक्रान्तसे,
वालकने कभी कुछ पूछा नहीं आज तक प्रश्नहीन विश्वमें।

इस निखिलमें जगत है लड़कपन विधाताका,
वयस्कोंके दृष्टिकोणमें हँसी है वह कौतुककी —
बालकको नहीं ज्ञात था ।
उसका तो वहाँ बिछा आसन अबाध था ।
वहीं उसका देव-लोक, स्वकल्पित वहीं स्वर्गलोक,
नहीं जहाँ भर्त्सना, नहीं जहाँ पहरा किसी प्रश्नका,
नहीं कहीं युक्तिका संकेत कोई पथमें,
इच्छाका ही सञ्चरण है उसके लगाम-मुक्त रथमें ।

६

सोचता मनमें हूं, मानो भाषाके असंख्य शब्द
हुए हैं मुक्त आज,
दीर्घकाल व्याकरण-दुर्गमें बन्दी रहनेके बाद
अकस्मात् हो उठे विद्रोही आज,
अधीर हो अविश्राम कर रहे कवायद हैं ।
तोड़ रहे बार-बार व्याकरणको
कर रहे ग्रहण वे मूर्खोंके भाषणको,
छिन्न कर अर्थका शृंखल-पाश
साधु-साहित्यपर करते हैं व्यङ्ग-हास्य परिहास ।
और सब छोड़कर मानते हैं केवल श्रुतिको
विचित्र उसकी भङ्गिमा है विचित्र उनकी युक्तियाँ ।
कहते हैं, हमने जन्म लिया है
इस धरणीपर निर्दलित पवनमें
आदिम जननीकी सन्तानके रूपमें
मानव-कण्ठमें मन-हीन प्राण जब
नारीके झूलेमें सद्य जागरणमें
नाद-नाद उठे थे ।

शिशु-कण्ठमें लाये हम आदि-काव्य
अस्तित्वकी प्रथम कलध्वनि।
गिरि-शिखरपर पागल निर्झर श्रावणका दूत जो
उसीके कुटुम्बी हम
आये हैं लोकालयमें
मन्त्र लेकर सृष्टिकी ध्वनिका।
मर्मर-मुखर वेगसे
ध्वनिका जो कलोत्सव
अरण्यके तरु-पल्लवोंमें है हो रहा,
जो ध्वनि दिगन्तमें आँधीके छन्दका करती है तौल-नाप,
निशान्तमें जगाती जो प्रभातका महा-प्रलाप,
उस ध्वनिके क्षेत्रसे आहरण किये हैं शब्द मनुष्यने
वन्य घोटकके समान अपने जटिल नियम-सूत्र-जालमें
वार्ता-वहन करनेको अनागत दूर देश-कालमें।
सवार हो लगाम-बद्ध शब्द-अश्वपर
मनुष्यने कर दी है मन्थर गति द्रुतकालकी घड़ियोंकी।
जड़की अचल बाधाको तर्क-वेगसे करके हरण
अदृश्य रहस्य-लोकमें कर रहे सञ्चरण,
व्यूह बाँध शब्द-अक्षौहिणी
प्रतिक्षण मूढ़ताका आक्रमण
व्यर्थ कर, जीतती है प्रचण्ड रण।
कभी शब्द चोर-से आ पैठते हैं
मानव-मनके स्वप्न-राज्यमें,
नींदके भाटा-स्रोतमें
पाते नहीं बाधा वे —
जो जीमें आता है ले आते हैं,
छन्दके वन्धनमें नहीं बँधते वे,

इसीसे बुद्धि हो अन्यमना
करती है शिल्प रचना
सूत्र जिसका असंलग्न स्खलित और शिथिल है,
विधाताकी सृष्टिसे जिसका नहीं मेल है ;
जैसे दस-बीस पिल्ले मिल एकसाथ खेलते हैं मत्त हो,
एकपर एक चढ़ते हैं, भूंकते हैं,
काटते हैं परस्पर बेमतलब,
उनके इस खेलमें हिंसाका भाव नहीं,
उसमें है केवल उद्दाम ध्वनि और भङ्गिमा ।
मन-ही-मन देखता हूं, दिन-दिनभर
दलके दल शब्द केवल दौड़ा ही करते हैं
निज अर्थोंसे छिन्न हो, आकाशमें मेघ जैसे
गरजते गड़गड़ाते हैं ।

कालिंगपंग
२४ सितम्बर १९४०

१०

पहाड़की नीलिमा और दिगन्तकी नीलिमा
शून्य और धरातल मिलकर ये सबके सब
मन्त्र बांधते हैं अनुप्रास और छन्दसे ।
वनको कराती स्नान शरतकी सुनहली धाम ।
पीले फूलोंमें मधु ढूंढ़ती हैं बैंगनी मधुमक्खियां :
बीचमें हूं मैं,
चारों ओर आकाश बजाता है निःशब्द तालियां ।
मेरे आनन्दमें आज हो रहे एकाकार
समस्त रंग और ध्वनियां,
जानता है क्या इस बातको यहांका यह कालिंगपंग ?

भण्डारमें करता है सञ्चित यह पर्वत-शिखर
अन्तहीन युग-युगान्तर।
मेरे एक दिनने उसे वरमाला पहना दी,
यह शुभ-संवाद पानेको
अन्तरीक्षमें दूरसे भी और दूर
अनाहतके स्वरमें
सोनेका घण्टा बजता है प्रभातका ढन्-ढन
सुनता है क्या कलिंगपंग ?

कालिंगपंग
२५ सितम्बर १९४०

११

पुरातन कालका इतिहास जब
संवादमें न था मुखरित तब
उस निस्तब्ध ख्यातिके युगमें –
आजके समान ऐसे ही प्राण-यात्रा-कल्लोलित प्रातमें
जिन्होंने की है यात्रा
मरण-शङ्कित मार्गसे
आत्माका अमृत-अन्न करनेको दान
दूर-वासी अनात्मीय जनोंको,
संघबद्ध हो चले थे जो –
पहुंचे नहीं लक्ष्य तक,
तृषा-तप्त महा-वालुकामें अस्थियां हैं छोड़ गये,
समुद्रने जिनके चिह्नको मिटा दिया,
अनारब्ध कर्मपथमें
अकृतार्थ नहीं हुए वे –
घुल-मिल गये हैं उस देहातीत महाप्राणमें,

शक्ति दी है जिसने अगोचरमें चिर-मानवको –
उनकी करुणाका स्पर्श पा रहा हूं आज
इस प्रभातके प्रकाशमें,
उनको मेरा नमस्कार है ।

'उदयन' : शान्ति-निकेतन
प्रभात : १२ दिसम्बर १९४०

१२

जीवन-वहन-भाग्यको नित्य आशीर्वादसे
करने दो स्पर्श ललाटका
अनादि ज्योतिके दान-रूपमें –
नित्य नवीन जागरणमें
प्रत्येक प्रभातमें
मर्त्य-आयुकी सीमामें ।
म्लानिमाका घना आवरण
हटता रहे प्रतिदिन और प्रतिक्षण
अमर्त्य-लोकके द्वारसे
निद्रा-जड़ित रात्रि-सम ।
हे सविता,
उन्मुक्त करो
अपने कल्याणतम रूपको,
उस दिव्य आविर्भावमें
देखूं मैं
निज आत्माको
मृत्युके अतीत जो ।

'उदयन'
प्रभात : ७ पौष १३४७

१३

कालके प्रवल आवर्तसे प्रतिहत
फेन-पुञ्जके समान,
प्रकाश-अन्धकारसे रञ्जित यह माया है,
अशरीरीने धारण की काया है।
सत्ता मेरी, ज्ञात नहीं, कहाँसे यह
उत्थित हुई नित्य-धावित स्रोतमें।
सहसा अचिन्तनीय
अदृश्य एक आरम्भमें केन्द्र रच डाला अपना।
विश्व-सत्ता बीचमें आ झाँकती है,
ज्ञात नहीं इस कौतुकके पीछे कौन है कौतुकी!
क्षणिकाको लेकर यह असीमका है खेलना,
नव-विकाशके साथ गुंथी है शेष-विनाशकी अवहेलना,
मृदङ्ग वज रहा है आलोकमें कालका,
चुपकेसे आती है क्षणिका नव-वधूके वेशमें
ढककर मुँह घूंघटसे
बुद्बुद-हार पहने मणिकाका।
सृष्टिमें पाती है आसन वह,
अनन्त उसे जताता है अन्त-सीमाका आविर्भाव।

१४

की है वाणीकी साधना
दीर्घकाल तक,
आज क्षण-क्षणमें करता हूं उपहास-परिहास उसका।
वहु-व्यवहार और दीर्घ-परिचय
तेज उसका कर रहा क्षय।

करके अपनी अवहेलना
अपनेसे करती है खेल वह।
तो भी, मैं जानता हूं, अपरिचितका परिचय
निहित था वाक्यमें, जो उसके वाक्यके अतीत है।
उस अपरिचितका दूत आज मुझे
लिये जाता है दूर
अकूल सिन्धुको
प्रणाम निवेदन करनेको,
इसीसे कहता है मन, 'मैं जाता हूं।'

उस सिन्धुमें दिन-यात्राको सूर्य कर देता पूर्ण,
वहांसे सन्ध्या-तारा
रात्रिको दिखाते चलते हैं पथ,
जहां उसका रथ
चला है ढूंढ़नेको
नूतन प्रभात-किरणोंको तमिस्राके पार।
आज सभी बातें
लगती हैं केवल मुखरता-सी।
रुकी हैं वे
पुरातन उस मन्त्रके पास आकर
जो ध्वनित हो रहा है उस नैःशब्द्य-शिखरपर
सकल संशय-तर्क
जिस मौनकी गम्भीरतामें होते निःशेष हैं।
लोक-ख्याति जिसके पवनसे
क्षीण होकर तुच्छ हो जाती है।
दिन-शेषमें कर्मशाला
भाषा-रचनाका रुद्ध कर दे द्वार।

पड़ा रह जाय पीछे
झूठा कूड़ा-करकट सारा।
बारम्बार मन-ही-मन कह रहा हूं,
'मैं जाता हूं' –
जहां नहीं है नाम,
जहां हो चुका है लय
समस्त विशेष परिचय,
'नहीं' और 'है'
जहां मिले हैं दोनों एकमें,
जहां अखण्ड दिन
हैं आलोक-हीन अन्धकार-हीन,
मेरी 'मैं' की धारा जहां विलीन हो जायगी
क्रमशः परिपूर्ण चैतन्यके सागर-संगममें।
यह बाह्य आवरण
ज्ञात नहीं,
नाना रूप-रूपान्तरमें
कालस्रोतमें कहां बह जायगा।
अपने स्वातन्त्र्यसे निःसक्त हो देखूंगा उसे बाहर
'बहु' के साथ जड़ित मैं अज्ञात-तीर्थगामी।

आसन्न है वर्षका शेष।
पुरातन सब-कुछ अपना मेरा
शिथिल-वृन्त कुसुम-सम
छिन्न हुआ जाता है।
अनुभव उसका
कर रहा विस्तार अपना
मेरे सब-कुछमें।

प्रच्छन्न विराजता रहा जो
निगूढ़ अन्तरमें एकाकी,
देखता हूं उसीको मैं
दर्शन पानेकी आशामें।
पश्चातका कवि
पोंछकर कर रहा क्षीण अपने हस्ताङ्कित चित्रको।
सुदूर सम्मुखमें सिन्धु और निःशब्द रजनी है,
उसके तीरसे सुनता हूं अपनी ही पदध्वनि।
असीम पथका पथिक मैं, अबकी आया हूं धरापर
मर्त्य-जीवनके कामपर।
इस पथमें प्रतिक्षण अगोचरमें
जो कुछ भी पाया उसमें पाई मैंने यही एक सम्पदा,
अमूल्य और उपादेय
यात्राका अक्षय पाथेय।
मन कहता है, 'मैं जाता हूं'—
अपना प्रणाम रखे जाता हूं उनके लिए
जिन्होंने जीवनका प्रकाश
डाला है मार्गमें,
जिन्होंने संशयको किया दूर बार-बार।

'उदयन'
प्रभात : १९ जनवरी ४१

१५

मेरी चेतनामें
आदि-समुद्रकी भाषा हो रही है ओंकारित :
जानता नहीं अर्थ उसका,
मैं हूं वही वाणी।

केवल छलछल कलकल ;
केवल सुर, केवल नृत्य, वेदनाका कलकोलाहल ;
केवल यह तैरना –
कभी इस पार चलना, कभी उस पार चलना,
कभी अदृश्य गभीरतामें
कभी विचित्रके किनारे-किनारे ।
छन्दके तरङ्ग-झूलेमें झूलते चले जाते हैं,
जाग उठते हैं कितने हाव-भाव, कितने इशारे !
स्तब्ध मौनी अचलके इङ्गितपर
निरन्तर स्रोत-धारा अज्ञात सम्मुखमें है धावमान,
कहाँ उसका शेष है, कौन जानता है !
धूप-छाया क्षण-क्षणमें देती रहती है
मुड़-मुड़कर स्पर्श नानाप्रकारके ।
कभी दूर, कभी निकटमें,
प्रवाहके पटमें
महाकाल करता है दो रूप धारण
अनुक्रमसे शुभ्र और कृष्णवर्ण ।
बार-बार दक्षिण और वाममें
प्रकाश और प्रकाशकी बाधा ये दोनों मिल
अधराका प्रतिबिम्ब गति-भङ्गमें जाती है अङ्कित कर,
गति-भङ्गसे रुक-रुककर ।

१६

विपुला इस पृथ्वीका में जानता ही क्या हूं !
देश-देशमें कितने नगर हैं, कितनी हैं राजधानियां –
मनुष्यकी कितनी हैं कीर्तियां,
कितने हैं गिरि सिन्धु मरु, कितनी हैं नदियां,

कितने हैं अज्ञात जीव, कितने हैं अपरिचित पेड़-पौधे—
रह गये सब अगोचरमें ।
विशाल है विश्वका आयोजन ;
मनको वह घेरे ही रहता है प्रतिक्षण ।
इसी क्षोभमें पढ़ा करता हूं ग्रन्थ भ्रमण-वृत्तान्तके
अक्षय उत्साहसे—
जहां भी पाता हूं चित्रमय वर्णनकी वाणी
बटोर लाता हूं ।
ज्ञानकी दीनता अपूर्णता जो भी है मनमें
पूरी कर लेता हूं भिक्षा-लब्ध ज्ञानसे ।

मैं हूं पृथ्वीका कवि,
जहां जितनी भी होती है ध्वनि,
मेरी बांसुरीके सुरमें उसी क्षण
जाग उठती है उसकी प्रतिध्वनि,
इस स्वर-साधनामें पहुंची नहीं बहुतोंकी पुकार
इसीसे रह गई दरार ।
अनुमान और कल्पनामें धरित्रीकी महा-एकतान
पूर्ण करती रहती है निस्तब्ध क्षणोंमें मेरे प्राण ।
दुर्गम तुषारगिरि असीम निःशब्द नीलिमामें
अश्रुत जो गाता गान,
मेरे अन्तरमें
भेजा है निमन्त्रण उसने बार-बार ।
दक्षिण-मेरुके ऊपर जो अज्ञात तारा है
महा जन-शून्यतामें रात अपनी बिताता है,
उसने अर्धरात्रिमें मेरी अनिद्रा किया है स्पर्श
अनिमेष दृष्टिसे अपूर्व आलोकमें ।

सुदूरका महाप्लावी प्रचण्ड निर्झर
मेरे मनके गहनमें भेजता रहता है स्वर।
प्रकृतिके ऐक्यतान-स्रोतमें
नाना कवि उँडेलते हैं गान नाना दिशासे ;
उन सबके साथ मेरा है इतना ही योग —
मिलता है सङ्ग सबका, पाता हूं आनन्द-भोग,
गीत-भारतीका मैं पाता हूं प्रसाद
निखिलके सङ्गीतका स्वाद।
सबसे दुर्गम जो मनुष्य है अपने अन्तरालमें
उसका कोई परिमाप नहीं वाह्य देश-कालमें।
वह है अन्तरमय,
अन्तर मिलानेपर ही मिलता है उसका अन्तर-परिचय।
मिलता नहीं सर्वत्र उसका प्रवेश-द्वार,
बाधा बनी-हुई है सीमा-रेखा मेरी
अपनी ही जीवनयात्राकी।
किसान चलाते हल खेतमें
जुलाहे चलाते तांत घरमें बैठ
बहु-दूर प्रसारित है इनका कर्म-भार
उसीपर कदम रख चलता है सारा संसार।
अतिक्षुद्र अंशपर उसके सम्मानके निर्वासनमें
समाजके उच्च-मञ्चपर बैठा मैं संकीर्ण वातायनमें।
कभी-कभी गया हूं दूसरे मुहल्लेके प्राङ्गण तक
नहीं थी शक्ति किन्तु भीतर प्रवेश करनेकी।
जीवनसे जीवनके योग बिना
कृत्रिम पण्यमें व्यर्थ हो जाता है गीतका द्रव्य-सम्भार,
इसीसे मान लेता हूं मैं
अपने सुरकी अपूर्णताकी निन्दाको।

मेरी कविता, मैं जानता हूं,
गई है विचित्र मार्गसे, फिर भी वह
हो न सकी सर्वत्रगामी।
किसानके जीवनसे संयुक्त है जो जन,
मन-वचन-कर्ममें सची आत्मीयता जिसने की है अर्जन,
जो है धरणीकी मिट्टीके निकटतम,
उस कविकी वाणी सुननेको
कान बिछा रखे हैं मैंने आज।
साहित्यके आनन्द-भोजमें
स्वयं न दे सका जो, नित्य रहता मैं उसीकी खोजमें।
वह हो सत्य हो,
भाव-भङ्गीसे रिझाकर न दूं धोखा किसी दृष्टिको।
सत्यका मूल्य बिना दिये
करना साहित्यकी ख्याति चोरी,
अच्छी नहीं, अच्छी नहीं, नकली है वह शौकीनी मजदूरी।
आओ कवि, अख्यात जनके
निर्वाक मनके।
हृदयकी वेदनाका उद्धार करो —
प्राण-हीन इस देशमें गान-हीन परिवेशमें,
अवज्ञाके तापसे शुष्क निरानन्द मरुभूमिको
अपने रससे परिपूर्ण कर दो आज तुम।
भीतर है उत्स उनका अपना जो
उसे खोल दो आज तुम।
साहित्यकी एकतान-संगीत-सभामें वे भी सम्मान पायें
जिनके पास केवल इशारा है —
मूक हैं जो सुख-दुखमें,
नतमस्तक स्तब्ध जो हैं विश्वके सामने :

हे गुणी, पाससे जो हैं दूर, उनकी मैं सुनूं वाणी।
हो जाओ तुम उनके अपने जन,
तुम्हारी ख्यातिमें ही उन्हें मिल जाय अपनी ख्याति, —
करूंगा मैं वारम्वार
तुम्हें विनम्र नमस्कार।

'उदयन'
प्रभात : २१ जनवरी ४१

१७

सिंहासनकी छाया-तले दूर-दूरान्तरमें
जो राज्य स्पर्धासे घोषित करता है —
राजा और प्रजामें कोई भेद-भाव,
पांव-तले दवाये रखता है वह अपना ही सर्वनाश।
हतभाग्य जिस राज्यके सुविस्तीर्ण दैन्य-जीर्ण प्राण
राज-मुकुटका नित्य करते हैं कुत्सित अपमान,
उसका असह्य दुःख-ताप
राजाको न लगे यदि, तो लगता है विधाताका अभिशाप।
महा-ऐश्वर्यके निम्न-तलमें
अर्धाशन अनशन नित्य धधकता ही रहता है क्षुधानलमें,
शुष्कप्राय कलुषित है पिपासाका जल,
देहपर है नहीं शीतका वस्त्र-सम्वल,
अवारित है मृत्युका द्वार,
निष्ठुर है उससे भी जीवन्मृत देह चर्मसार।
शोषण करता ही रहता है दिन-रात
रुद्ध आरोग्यके पथपर रोगका अवाध अपघात —
जिस राज्यमें वसता हो मुमूर्षु-दल,
उस राज्यको कैसे मिल सकता प्रजाका वल!

एक पक्ष शीर्ण है जिस पक्षीका
आँधीके संकट-क्षणोंमें नहीं रह सकता स्थिर वह,
समुच्च आकाशसे धूलिमें आ पड़ेगा अङ्गहीन,
आयेगा विधिके समक्ष हिसाब चुकानेका एक दिन।
अभ्रभेदी ऐश्वर्यके चूर्णीभूत पतनके कालमें
दरिद्रकी जीर्ण दशा बनायेगी अपना नीड़ कङ्कालमें।

'उदयन'
सायाह्न : २४ जनवरी ४१

१८

सृष्टि-लीलाके प्राङ्गणमें खड़ा-हुआ
देखता हूं क्षण-क्षणमें
तमसके उस पार
जहां महा-अव्यक्तके असीम चैतन्यमें लीन था मैं।
आज इस प्रभातमें ऋषि-वाक्य जाग रहा मनमें।
करो करो अपावृत, हे सूर्य, आलोक-आवरण,
तुम्हारी अन्तरतम परम ज्योतिमें
देखता हूं निज आत्माका स्वरूप मैं।
जो 'मैं' दिन-शेषमें वायुमें विलीन करता है प्राणवायु,
भस्ममें जिसकी देहका अन्त होगा,
यात्रा-पथमें वह अपनी छाया न डाले कहीं
धारण कर सत्यका छद्मवेश।
इस मर्त्यके लीला-क्षेत्रमें
सुख-दुःखमें अमृतका स्वाद भी तो
पाया है क्षण-क्षणमें,
बार-बार असीमको देखा है
सीमाके अन्तरालमें।

समझा है, इस जन्मका शेष अर्थ वहीं था,
उसी सुन्दरके रूपमें,
सङ्गीतमें अनिर्वचनीय जो।
खेलघरका आज जब खुलेगा द्वार
धरणीके देवालयमें रख जाऊंगा अपना नमस्कार,
दे जाऊंगा जीवनका सम्पूर्ण नैवेद्य मैं,
मूल्य जिसका मृत्युके अतीत है।

'उदयन'
प्रभात : ११ माघ १९९७

१६

बहु-जन्मदिनोंसे गुँथे मेरे इस जीवनमें
अपनेको देखा मैंने विचित्र रूप-समावेशमें।
एक दिन 'नूतन वर्ष' अतलान्त-समुद्रकी गोदमें
धर लाया था मुझे यहां,
तरङ्गोंके विस्तृत प्रलापमें दिग्से दिगान्तरमें जहां
शून्य नीलिमापर शून्य नीलिमाने आ
तटको किया था अस्वीकार।
उस दिन देखी थी छवि अविचित्र धरणीका —
सृष्टिके प्रथम-रेखा-पातमें
जल-मग्न भविष्यत् जब
प्रतिदिन सूर्योदय-पानमें
करता था अपना सन्धान।
प्राणोंके रहस्य-आवरण
तरङ्गोंकी यवनिकापर
दृष्टि डाल सोचने लगा मैं,
अभी तक खुला नहीं मेरा जीवन-आवरण —

सम्पूर्ण जो मैं हूं
वह तो अगोचर ही रह गया गोपनमें।
नये-नये जन्मदिनोंपर
जो रेखाएँ पड़ती हैं शिल्पीकी तूलिकाकी
उसमें तो लिखा नहीं
मेरी छविका चरम परिचय।
केवल करता हूं अनुभव मैं,
चारों ओर अव्यक्तका विराट प्लावन
वेष्टित किये-हुए है दिवस और रात्रिको।

'उदयन'
सायाह्न : २० फरवरी ४१

२०

जन्म-वासरके घटमें
नाना तीर्थोंका पुण्यतीर्थ-वारि
किया है आहरण, इसका मुझे स्मरण है।
एक दिन गया था चीन-देशमें,
अपरिचित थे जो, उन्होंने
ललाटपर कर दिया चिह्न अङ्कित —
'तुम परिचित हो हमारे' कहके यह।
अलग जा गिरा था कहीं, न-जाने कब, पराया छद्मवेश ;
तभी तो दिखाई दिया अन्तरका मानव नित्य।
अचिन्तनीय परिचयने
आनन्दका बांध मानो खोल दिया।
धारण किया चीनी नाम, पहन लिया चीनी वेश
समझ ली यह बात मनमें —
जहाँ भी मिल जाते बन्धु, वहीं नवजन्म होता।

प्राणोंमें लाती है वह अपूर्वता ।
विदेशी पुष्पोद्यानमें खिलते हैं अपरिचित फूल –
विदेशी हैं नाम उनके, विदेशमें है जन्मभूमि,
आत्माके आनन्द-क्षेत्रमें उनकी आत्मीयता
पाती है अभ्यर्थना विना किसी वाधाके ।

२१

फिर लौट आया आज उत्सवका दिन !
वसन्तके विपुल सम्मानने
भर दी हैं डालियां पेड़-पौधोंकी
कविके प्राङ्गणमें
नव-जन्मदिनकी डालीमें ।
वन्द घरमें दूर वैठा हूं मैं –
इस वर्ष व्यर्थ हो गया
पलाश-वनका निमन्त्रण ।
सोचता हूं, गान गाऊं आज वसन्तवहारमें ।
आसन्न विरह-स्वप्न निविड़ हो
उतरा आता है मनमें ।
जानता हूं, जन्मदिन
एक अविचित्र दिनसे जा लगेगा अभी,
विलीन हो जायगा अचिह्नित कालके पर्यायमें ।
पुष्प-वीथिकाकी छाया इस विषादको करुण करती नहीं,
वजती नहीं स्मृतिकी व्यथा अरण्यके मर्मर-गुञ्जनमें ।
निर्मम आनन्द इस उत्सवको वजायेगा वांसुरी
विच्छेदकी वेदनाको पथके किनारे ढकेलकर ।

'उदयन'
सायाह्न : २१ फरवरी ४१

२२

आज मेरा जन्मदिन है।
प्रभातका प्रणाम ले अपना
उदय-दिगन्तकी ओर देखा मैंने,
देखा, सद्यस्नाता ऊषाने
अङ्कित कर दिया है आलोक-चन्दन-लेख
हिमाद्रिके हिम-शुभ्र कोमल ललाटपर।
जो महादूरत्व है निखिल विश्वके मर्मस्थलमें
उसीकी देखी आज प्रतिमा गिरीन्द्रके सिंहासनपर।
गभीर गाम्भीर्य युग-युगमें
छायाघन अपरिचितका कर रहा पालन
पथ-हीन महा-अरण्यमें,
अभ्रभेदी सुदूरको वेष्टित कर रखा है
दुर्भेद्य दुर्गम-तले
उदय-अस्तके चक्र-पथमें।
आज इस जन्मदिनमें
दूरत्वका अनुभव निविड़ हो चला है अन्तरमें।
जैसे वह सुदूर नक्षत्र-पथ
नीहारिका-ज्योतिर्वाष्पमें रहस्यसे आवृत है
अपने दूरत्वको वैसे ही देखा मैंने दुर्गममें,
अलक्ष्य-पथका यात्री मैं, अज्ञात है परिणाम जिसका।
आज अपने इस जन्मदिनमें –
दूरका पथिक जो, उसीकी सुनता हूं पदध्वनि
निर्जन समुद्र-तीरसे।

'उदयन'
प्रभात : २१ फरवरी ४१

२३

जटिल है संसार,
गांठ सुलझानेमें उलझ जाता हूं बार-बार।
सीधा नहीं गम्य-स्थान,
दुर्गम पथकी यात्रा है, कंधेपर बोझ है दुश्चिन्ताका।
प्रति पदमें प्रति पथमें
सहस्रों हैं कृत्रिम वक्रता।
क्षण-क्षणमें
हताश्वास होकर शेषमें हार मान लेता मन।
जीवनके टूटे छन्दमें भ्रष्ट होता मेल है,
जीनेका उत्साह धूलमें मिल, हो जाता शिथिल है।

ओ आशाहीन,
शुष्कतापर उतार लाओ निखिलकी वर्षा-रस-धारा।
विशाल आकाशमें,
वन-वनमें, धरणीकी घासमें,
सुगभीर अवकाशसे पूर्ण हो उठा है आज
निखिल विश्व
अन्तहीन शान्ति-उत्सवके स्रोतमें।
अन्तःशील जो रहस्य है प्रकाश-अन्धकारमें
उसका सद्य करे आह्वान—
आदिम प्राणके यज्ञमें मर्मका सहज साम-गान।
आत्माकी महिमा, जिसे तुच्छताने कर दी है जर्जर
म्लान अवसादसे, उसे दूर कर दूं,
लुप्त हो जाय वह शून्यमें,
द्युलोक और भूलोकके सम्मिलित मन्त्रणाके बलसे।

२४

फूलदानीसे एकके बाद एक
आयुक्षीण गुलाबकी पँखड़ियाँ झड़-झड़ पड़ती हैं।
फूलोंके जगतमें
मृत्युकी विकृति नहीं देखता मैं।
करता नहीं शेष-व्यङ्ग जीवनपर असुन्दर।
जिस मिट्टीका ऋणी है
अपनी घृणासे फूल करता नहीं अशुचि उसे,
रूपसे गन्धसे लौटा देता है म्लान-अवशेषको।
विदाका सकरुण स्पर्श है उसमें,
नहीं है भर्त्सना किञ्चित् भी।
जन्मदिन और मरणदिन
दोनों जब होते मैं सम्मुखीन,
देखता हूं मानो उस मिलनमें
पूर्वाचल और अस्ताचलमें होती हैं
आँखें चार अवसन्न दिवसकी,
समुज्ज्वल गौरवका कैसा प्रणत सुन्दर अवसान है।

'उदयन'
सायाह्न : २२ फरवरी ४१

२५

विश्व-धरणीके इस विशाल नीड़में
सन्ध्या है विराजमान,
उसीके नीरव निर्देशसे उसीकी ओर
निखिल गतिका वेग हो रहा है धावमान।
चारों ओर धूसरवर्ण आवरण उतरा आता है।

मन कहता है, जाऊंगा अपने घर –
कहाँ घर है, नहीं जानता ।
द्वार खोलती है सन्ध्या निःसङ्गिनी,
सामने है नीरन्ध्र अन्धकार ।
समस्त आलोकके अन्तरालमें
विस्मृतिकी दूती
उतार लेती है इस मर्त्यकी उधार ली-हुई साज-सज्जा सब –
प्रक्षिप्त जो कुछ भी है उसकी नित्यतामें
छिन्न-जीर्ण-मलिन अभ्यासको दूर फेंक देती है ।
अन्धकारका अवगाहन-स्नान
निर्मल कर देता है नवजन्मकी नग्न 'भूमिका' ।
जीवनके प्रान्तभागमें
अन्तिम रहस्य-पथ मुक्त कर देता है
सृष्टिके नूतन रहस्यको ।
नव जन्मदिन वही है
अँधेरेमें मन्त्र पढ़ सन्ध्या जिसे जगाती है आत्म-आलोकमें ।

२६

नदीका पालित है मेरा यह जीवन ।
नाना गिरि-शिखरका दान उसकी शिराओंमें प्रवाहित है,
नाना सैकत-मृत्तिकासे क्षेत्र उसका रचा गया,
प्राणोंका रहस्य-रस नाना दिशाओंसे
सञ्चारित हुआ नाना शस्योंमें ।
पूर्व-पश्चिमके नाना गीत-स्रोत-जालमें
वेष्टित है उसका स्वप्न और जागरण ।
जो नदी विश्वकी दूती है
दूरको निकट जो लाती है,

अपरिचितकी अभ्यर्थनाको ले आती है घरके द्वारपर,
उसने रचा था मेरा जन्मदिन,
चिरदिन उसके स्रोतमें
बन्धनसे बाहर मेरा चलायमान नीड़
बहता ही चलता है तीरसे तीरपर।
मैं हूं व्रात्य, मैं हूं पथचारी,
अवारित आतिथ्यके अन्नसे पूर्ण हो उठता है
बार-बार निर्विचार जन्मदिनका मेरा थाल।

'उदयन'
मध्याह्न : २३ फरवरी ४१

२७

आती है याद आज, शैल-तटपर तुम्हारी उस निभृत कुटियाकी ;
हिमाद्रि जहाँ निज समुच्च शान्तिके
आसनपर निस्तब्ध नित्य विराजता,
उत्तुङ्ग उसकी शिखरकी सीमा लाँघना चाहती है
दूरतम शून्यकी महिमाको।
अरण्य उतर रहा है उपत्यकासे ;
निश्चल हरी बाढ़ने निविड़ नैःशब्द्यसे
छा दिया है अपने छायापुञ्जको।
शैलशृङ्ग-अन्तरालमें
प्रथम अरुणोदय-घोषणाके कालमें
अन्तरात्मामें लाती थी स्पन्दन एक
सद्यस्फूर्त चञ्चलता विश्वजीवनकी।
निर्जन वनका गूढ़ आनन्द जितना था
भाषाहीन विचित्र संकेतमें
पाता था हृदयमें –

जो विस्मय था धरणीके प्राणोंकी आदि सूचनामें।
सहसा अज्ञात-नामा पक्षियोंके
चकित पक्ष-चालनामें
मेरी चिन्ताधारा वह जाती थी
शुभ्र-हिम-रेखाङ्कित महा-निरुद्देशमें।
हो जाती थी अबेर, और लोकालय उठाता था
शीघ्रतासे सुप्तोत्थित शिथिल समयको।
गिरि-गात्रपर चढ़ती चली गई हैं पगडण्डियाँ,
चढ़ते और उतरते हैं पहाड़ी जन
हलके-भारी बोझ लेकर कामके।
पार्वती जनता
विदेशी प्राण-यात्राकी खण्ड-खण्ड वार्ताएँ
मनमें छोड़ जाती है,
नाना रेखाओंमें असंलग्न चित्र-सी।
कभी-कभी सुनता हूं पास ही घण्टा कहीं बज रहा,
कर्मका दौत्य वह करता है
प्रहर-प्रहरमें।
प्रथम आलोकका स्पर्श आ लगता है,
घर-घरमें आतिथ्यका सख्य-भाव जगता है।
स्तर-स्तरमें द्वारके सोपानमें
नाना रंगके नाना फूल अतिथिके प्राणमें
गृहिणीके हाथसे प्रकृतिकी लिपि ले आते हैं
आकाश-वातासमें।
कलहास्यसे लाती है मानवकी स्नेह-वार्ता
युग-युगान्तके मौनी हिमाद्रिकी सार्थकता।

'उदयन'
सायाह्न : २५ फरवरी ४१

२८

पुराना खंडहर घर और सूना दालान –
मूक स्मृतिका रुद्ध क्रन्दन करता है हाय-हाय,
मरे-दिनोंकी समाधिकी भीतका है अन्धकार
घुमड़-घुमड़ उठता है प्रभातके कण्ठमें
मध्याह्न-वेला तक।
खेत और मैदानमें सूखे पत्ते उड़ रहे हैं
घूर्णचक्रमें पड़ हाँप रहे मानो वे।
सहसा काल-वैशाखी
करती है वार ववंरताका
फागुनके दिन जब जानेके पथमें हैं।

सृष्टि-पीड़ा मारती है धक्के
शिल्पकारकी तूलिकाको पीछेसे।
रेखा-रेखामें फूट उठती है
रूपकी वेदना
साथी-हीन तप्त रक्तवर्णमें ;
कभी-कभी शैथिल्य आ जाता है
तूलिकाकी चालमें ;
पासकी गलीमें उस चिकसे-ढके धुँधले आकाश-तले:
सहसा झमक उठती है संकेत-झंकार जब
उंगलियोंके पोटुओंपर
नाच उठता मदमत्त तब।
गोधूलिका सिन्दूर छायामें झड़ पड़ता है
पागल-आवेगकी
हवाई आतशबाजीके स्फुलिङ्ग-सा।

वाधा पाती और मिटाती है शिल्पीकी तूलिका ।
वाधा उसकी आती कभी हिंस्र अश्लीलतामें,
कभी आती मदिर असंयममें ।
मनमें गँदले स्रोतकी ज्वार फूल-फूल उठती है,
वह जाती है फेनिल असंलग्नता ।
रसे लदी नाव
वहा ले चली है
रूपकारको
रातके उल्टे उजान स्रोतमें
सहसा-मिले घाटपर ।
दाहने और वायें
सुर-बेसुरके डाँड़ मारते झपट्टा हैं,
ताल देता चलता है
वहनेका खेल शिल्प-साधनाका ।

शान्ति-निकेतन
२५ फरवरी १९४१

२९

तुम सबको मैं जानता हूं, फिर भी
हो तो तुम दूर ही के जन ।
तुम्हारा आवेष्टन, चलना-फिरना,
चारों ओर लहरोंका उतरना-चढ़ना,
सब-कुछ परिचित जगतका है,
फिर भी है दुविधा उसके आमन्त्रणमें –
सबोंसे मैं दूर हूं,
तुम्हारी नाड़ीकी जो भाषा है
वह है तो मेरे अपने प्राणोंकी ही, फिर भी –

विषण्ण विस्मय होता है
जब देखता हूं, स्पर्श उसका
ससङ्कोच परिचय ले आता है
प्रवासीका पाण्डुवर्ण शीर्ण आत्मीय-सा।
मैं कुछ देना चाहता हूं,
नहीं-तो जीवनसे जीवनका
होगा मेल कैसे ?
आते नहीं बनता मुझसे
निश्चित पदक्षेपमें,
डरता हूं,
रीता हो पात्र शायद,
शायद उसने खो दिया हो रसस्वाद
अपने पूर्व-परिचयका,
शायद आदान-प्रदानमें
न रहे सम्मान कोई !
इसीसे आशङ्काकी इस दूरीसे
निष्ठुर इस निःसङ्गतामें
तुम सबको बुलाकर कहता हूं –
'जिस जीवन-लक्ष्मीने मुझे सजाया था
नये-नये वेशमें,
उसके साथ विच्छेदके दिन आज
बुझाकर उत्सव-दीप सब
दरिद्रताकी लाञ्छना
होने न देगी कभी कोई असम्मान,
अलङ्कार खोल लेगी,
एक-एक करके सब
वर्ण-सज्जा-हीन उत्तरीयसे ढक देगी,

ललाटपर अङ्कित कर देगी
शुभ्र तिलककी रेखा एक ;
तुम भी सब शामिल होना
जीवनका परिपूर्ण घट साथ ले
उस अन्तिम अनुष्ठानमें,
सम्भव है सुनाई दे
दूरसे दूर कहीं
दिगन्तके उस पार शुभ-शङ्खध्वनि ।'

'उदयन'
प्रभात : ९ मार्च १९४१

हिन्दी अनुवाद
श्रावणी-पूर्णिमा
२००८

बोस भागोंकी विषय-सूची

पहला भाग :— 'दो बहन' (उपन्यास) ; कंकाल, घाटकी बात, स्वर्णमृग, बदलीका दिन, सौगात (कहानियाँ) ; हिन्दू-मुसलमान (निबन्ध)

दूसरा भाग :— क्षुधित पाषाण, दृष्टि-दान, जीवित और मृत, लल्लाका लौटना, एक रात, दुलहिन, एक बरसाती कहानी, मुक्तिका उपाय, प्राण-मन, एक चितवन (दस कहानियाँ)

तीसरा भाग :— सड़ककी बात, मणिहीन, निशीथमें, दुराशा, दालिया, त्याग, देन-लेन, सम्पादक, सुभा, कहानी, पुरानी कहानी, (ग्यारह कहानियाँ)

चौथा भाग :— 'फुलवाड़ी' (उपन्यास) ; और दीवार, सम्पत्ति-समर्पण, बाकायदा उपन्यास (कहानियाँ) ; 'आवरण' (शिक्षा-सम्बन्धी निबन्ध)

पाँचवाँ भाग : — समाप्ति, जय-पराजय, पोस्ट-मास्टर, फरक, अधिनेता, संस्कार, सजा, रामलालकी मूर्खता, ताराचन्दकी करतूत (कहानियाँ) ; और महात्मा गान्धीके विषयमें छै निबन्ध।

छठा भाग :— काबुलवाला, छुट्टी, जीजी, महामाया, जासूस, भाई-भाई, शुभदृष्टि, कहानीकार, नील, अनधिकार-प्रवेश (दस कहानियाँ) ; 'मा मा हिंसीः' और 'राष्ट्रकी पहली पूंजी' (निबन्ध)

सातवाँ भाग : — रासमणिका लड़का, बदला, पुत्र-यज्ञ, असम्भव बात, उद्धार, उलट-फेर, समाधान (सात कहानियाँ) ; 'तपोवन' (भारतीय संस्कृति सम्बन्धी प्रसिद्ध निबन्ध)

आठवाँ भाग :— 'निर्झरका स्वप्न-भङ्ग', 'दुःसमय' ('ओरे मेरे विहंग'), 'सूरदासकी प्रार्थना', 'अभिसार', 'होली', 'राष्ट्र-गान' (कविताएँ) ; अपरिचिता, अध्यापक, कर्मफल (कहानियाँ) ; और 'शिक्षाका विकीरण' (निबन्ध)

नौवाँ-दसवाँ भाग : — 'उलझन' ('नौकाडूबी' उपन्यास)

ग्यारहवाँ भाग :— 'डाकघर' और 'नन्दिनी' (दो नाटक) ; 'कच और देवयानी' और 'अभिलाष' आदि (कविताएँ)

बारहवाँ भाग :—'आखिरी कविता' ('विदाका गीत' : उपन्यास)

तेरहवाँ भाग :—'बाँसुरी' और 'कालकी यात्रा' (नाटक) ; कर्ण-कुन्ती संवाद, देवताका ग्रास (काव्य) ; साहित्य-धर्म, मुक्तिकी दीक्षा, पुस्तकालयोंके मुख्य कर्तव्य (निबन्ध)

चौदहवाँ भाग : —'विसर्जन' (नाटक) ; 'नष्टनीड़' (उपन्यास)

पन्द्रहवाँ भाग :— 'स्मरण' (सहधर्मिणीके वियोगमें कवि : सत्ताईस कविताएँ) ; 'मालिनी' (नाटिका) ; स्त्रीकी चिट्ठी, चोरीका धन, बाबा, वैरागिन मुकुट (कहानियाँ)

सोलहवाँ भाग :—'गान्धारीका आवेदन' (काव्य) ; मेघ और धूप आखिरी रात, अतिथि, पड़ोसिन, राज-तिलक, वाणी, मेघदूत, कृतघ्न शोक बाँसुरी आदि (बारह कहानियाँ) ; 'शिक्षाका स्वात्मीकरण' (प्रसिद्ध निबन्ध)

सत्रहवाँ भाग : —'तपती' (नाटक) ; 'वैकुण्ठका पोथा', 'स्वर्गीय प्रहसन (दो प्रहसन)

अठारहवाँ भाग :—'जीवन-स्मृति' (कविका आत्मचित्र : साहित्याकांक्षी प्रत्येक विद्यार्थी और भावुक-हृदय दार्शनिकोंके पठन-योग्य महान् ग्रन्थ)

उन्नीसवाँ भाग :—"तीन साथी" ('रविवार', 'आखिरी बात' और 'लैबोरेटरी' : तीन विचित्र कहानियोंका सङ्गम)

बीसवाँ भाग :—'रोगशय्यापर', 'शेष वाणी', 'आरोग्य' और 'जीवनके जन्मदिन' (कविके शेष जीवनकी प्रथम शिथिल छन्दोमाला')

धन्यकुमार जैन : हिन्दी ग्रन्थागार

पी० १५, कलाकार स्ट्रीट : कलकत्ता - ७